भारतीय स्वाधीनता का इतिहास

समग्र तर्क, तथ्य और व्याख्याएँ लेखक की हैं इसलिए
इसका उत्तरदायित्व भी उन्हीं पर है।



स मा ना न्त र प्र का श न
स्वत्वाधिकारी : पूर्वोदय प्रकाशन
7/7 दरियागंज, नयी दिल्ली-110002

भारतीय स्वाधीनता का इतिहास

निर्मल कुमार

ISBN—81-7037-023

□ मूल्य : पचास रुपये □ प्रथम संस्करण : 1990
□ प्रकाशक : समानान्तर प्रकाशन, 7/7 दरियागंज, नयी दिल्ली-110002
□ मुद्रक : प्रियंका प्रिंटर्स द्वारा अंकित प्रिंटिंग प्रेस, शाहदरा, दिल्ली-32
□ कलापक्ष : पुष्पकणा मुखर्जी

BHARTIYA SWADHEENTA KA ITIHAS by Nirmal Kumar

प्रसंगवश

इतिहास राजाओं और हमलावरों की कहानी नहीं है। यह एक जाति की चेतना के विकास की कहानी है। काल के प्रवाह में एक जाति की चेतना विषम परिस्थितियों का कैसे सामना करती है, मानवीय गुणों का अमानुषिक घटनाओं के बीच कैसे विकास करती है; हत्या, लूट, बलात्कार और बर्बरता के बीच भी अपने चरित्र को बिगड़ने से कैसे बचाती है—इसका वृत्तान्त ही इतिहास है।

1857 के बाद, सबक सिखाने के इरादे से, अंग्रेजों ने भारत पर बहुत जुल्म किया। दमन के बाद दूसरा दौर आया। इसमें अंग्रेजों ने अपना राज्य स्थायी बनाने के लिए अन्याय से भरे अनेक कानून बनाये, साम्प्रदायिक हिंसा भड़काने के अनेक अशोभनीय प्रयत्न किये, भारत को गुलाम रखने की अनेक कोशिशें कीं। इन सबके बीच भारतीय जनमानस ने एक अपूर्व संघर्ष किया। उसने स्वतन्त्रता प्राप्ति को ही, साथ ही हजारों वर्षों पुरानी अपनी संस्कृति के सत्य, अहिंसा, विश्वबन्धुत्व के आदर्शों को भी जीवित रखा। यह विलक्षण उपलब्धि कैसे सम्भव हुई—प्रस्तुत पुस्तक उसी की कहानी है।

भारत की इतिहास-धारा एक सीधी नदी जैसी नहीं, एक बल खाती नदी जैसी है। इसके सीधे प्रवाह को अनेक हमलावरों ने आकर रोका, मोड़ा और उद्वेलित किया। उन्होंने अपने खून से भरे पंजे भारत माँ के हृदय में गड़ाये; लालच और वासना से अंधे होकर उस पर अवर्णनीय जुल्म किये; सत्तामद और साम्प्रदायिक नशे में अन्याय और पक्षपात के जहरीले धुएँ से अचेत किया। किन्तु कोई बात अवश्य है भारत माता में कि बर्बरता के बदले में उसके आंचल से जब भी निकला दूध ही निकला। द्वेषविहीन होकर, वात्सल्य से भरी इस माँ ने उनको भी पुत्र मानकर अपना दूध पिलाया और उसकी सन्तान को कहानियाँ और लोरियाँ सुनायीं। उसने अपने पुत्रों को कभी यह प्रेरणा नहीं दी कि वे हमलावरों से जुल्म और शोषण की विधियाँ सीखकर दूसरे देशों पर हमले करें, उनकी संस्कृति और धर्म को नष्ट करें और लोभ और वासना की बलिवेदी पर मनुष्यता का खून बहायें।

यह कोई काव्यमय प्रशंसा नहीं है भारतमाता की। विश्व के बुद्धिजीवियों, दार्शनिकों, मनोवैज्ञानिकों और विज्ञानवेत्ताओं ने बीसवीं शताब्दी में बार-बार अपने इस आश्चर्य को व्यक्त किया है—वह कौन सी आध्यात्मिक शक्ति है भारत में जिसने भारतीयों को एक लहूलुहान इतिहास के बीच भी कभी बर्बर नहीं होने दिया, कभी मानवीय मूल्यों का त्याग नहीं करने दिया ?

भारत में ऋषियों और महापुरुषों ने किस विधि द्वारा अनपढ़ जनता के मानस में मानव-गरिमा, सत्य, प्रेम और सुन्दर आचरण के बीज बोये ? यह एक रहस्य है जो समझ से बाहर है। उन मनीषियों का कहना था कि यह रहस्य नहीं संस्कार बोने की एक वैज्ञानिक विधि है। विस्मृति के कारण उस विधि को हम भूल गये है। आशा है कि बौद्धिक-नवजागरण के बाद भारत में सांस्कारिक-नवजागरण का दौर भी आयेगा। हमारे जनमानस में सांस्कारिक प्रक्षालन फिर एक बार होगा और इस बीच जो बुराइयाँ हमारे संस्कारों में आई है दूर होंगी। अछूत समस्या, दहेज-प्रथा, जातिवाद, प्रान्तवाद, नारीशोषण, भाषावाद और साम्प्रदायिक-वैमनस्य तब एक बीती दुःखभरी रात की स्मृति बनकर रह जायेंगे।

1857-1987 के बीच के नब्बे वर्षों में अनेक महान् पुत्र भारत ने उत्पन्न किये जिन्होंने इन बुराइयों को दूर करने के विविध प्रयत्न किये। उनके महान् प्रयत्नों का असर भारतीय जन-मानस की गहराइयों तक पहुँचा है। सांस्कारिक-समुद्रमंथन की वेला में उनका यह असर देवताओं की भूमिका अदा करेगा। उन्होंने भारत के अध्यातमवाद और आधुनिक पश्चिमी विज्ञान का जो समन्वय किया उससे स्वस्थ और सच्चे मानवीय संस्कार जन्म लेंगे। भारत फिर उस गौरव को प्राप्त करेगा जिसकी गाथा वेदों में सुरक्षित है, सारनाथ और वैशाली में ही नहीं, हर भारतीय हृदय में जीवित है।

प्रस्तुत इतिहास में जनसाधारण के संघर्ष को चित्रित किया गया है, नेताओं के संघर्ष को नहीं। किन्तु कुछ नेता होते हैं जो व्यक्तिगत जीवन की सीमाओ से ऊपर उठकर पूरी जाति की आकांक्षाओं और भावनाओं को जीने लगते हैं, उनकी कथा जन-जीवन की कथा बन जाती है। ऐसा ही एक पुरुष गांधी था।

—निर्मल कुमार

'बिन उद्गम के स्रोत'
बंगला न० 47 कैलाना, चकरौता
जि० देहरादून-248123
(उ० प्र०)

अनुक्रम



अठारह सौ सत्तावन की क्रान्ति

हर जाति की कुछ कमियाँ होती है। अंग्रेजों की एक महत्त्वपूर्ण कमी है—उनके दोहरे सिद्धान्त। उनकी यह कमी उनका विनाश कर सकती थी। किन्तु भारत में यह भी उनकी जीत का माध्यम बनी। इसका कारण था भारतीयों में राष्ट्रीय चरित्र का अभाव।

अंग्रेज इतिहासकारों ने 1857 की क्रान्ति को सिपाहियों की बगावत कहा है। यह मान्यता एक स्पष्ट भूल पर आधारित है। ऐसी भूल अंग्रेज जाति ही कर सकती है क्योंकि हर विषय पर उसके पैमाने दोहरे है। जो लड़ाई उनके अपने देश में स्वतन्त्रता की लड़ाई कहलाती वह लड़ाई भारत में, उन्हें बगावत नजर आयी। एक भूमि पर जब दो ताकतें लड़ रही हो, एक वहीं के रहने वाले लोग, दूसरे विदेश से आये हमलावर, तो उसे स्वतन्त्रता की लड़ाई कहा जाता है। किन्तु अग्रेज इतिहासकारों ने भारतीयों के स्वतन्त्रता संघर्ष को अग्रेजों के प्रति कृतघ्नता, विश्वासघात और बगावत कहा। इस नजरिये से फ्रांस द्वारा जर्मन शासकों को अपनी भूमि पर से खदेड़ना बगावत था।

1857 के आन्दोलन को बहुत से भारतीय इतिहासकार भी आजादी की पहली लड़ाई कहते हुए हिचकते है। उनका कहना है कि इसमें लड़ने वाले नेताओं का उद्देश्य संकीर्ण और अपने स्वार्थ तक सीमित था। वे पूरे भारत की आजादी के लिए नहीं लड़ रहे थे। रानी लक्ष्मीबाई इसलिए लड़ रही थी कि उसके दत्तक पुत्र को अंग्रेजों ने वे अधिकार देने से मना कर दिया था जो रानी को प्राप्त थे। नाना फड़नवीस अपनी पेंशन के लिए लड़ रहे थे। बादशाह बहादुरशाह इसलिए लड़ रहे थे कि अंग्रेजों ने उनके सारे अधिकार छीनने के बाद उनसे लालकिला खाली करने को कह दिया था। इन इतिहासकारों का कहना है कि इन नेताओं में राष्ट्रीय भावना नही थी। अतः उनके व्यक्तिगत संघर्षों को आजादी की लड़ाई नही कहा जा सकता।

यह कहना अधिक उपयुक्त होगा कि 1857 की लड़ाई भारत की स्वतन्त्रता की पहली लड़ाई थी जो राष्ट्रीय भावना और संगठन के अभाव में असफल हो

गयी। गांधीजी ने जब देश को एक राष्ट्रीय चेतना से भर दिया तो यही लड़ाई सफल हो गयी।

यह स्वतन्त्रता की लड़ाई इसलिए भी थी कि सभी वर्गों के भारतीय अंग्रेजों के जुल्मों, श्रेष्ठता मद (Superiority Complex), चालबाजी और दोहरी नीति से क्षुब्ध हो चले थे। अंग्रेजों की उपस्थिति उन्हें अपनी सांसों पर भी नियन्त्रण करती महसूस होने लगी थी। वे अंग्रेजों के प्रति कितने आक्रोश और विद्रोह से भरे हुए थे यह इस बात से स्पष्ट हो जाता है कि जो औरतों और बच्चों की आम-तौर से युद्ध में भी हत्या नहीं करते उन भारतीयों ने भारत से अंग्रेजों का सफाया करने की ठान ली थी और स्त्रियों-बच्चों की निर्मम हत्या जैसे जघन्य कर्म पर उतर आये थे।

विद्रोह की चिन्गारी किसानों, मजदूरों, कारीगरों, व्यापारियों सबके हृदयों में सुलग रही थी क्योंकि अंग्रेजों ने अपनी दोहरी चालों से इन सब पर कुठाराघात किये थे। भारतीय कपड़े पर ऊँचे टैक्स लगाकर और इंग्लैण्ड में उसके प्रवेश पर भारी प्रतिबन्ध लगाकर उन्होंने भारतीय कारीगरों को बेकार कर दिया था। "हजारों कारीगर कोई और रास्ता न पाकर भूख से तड़प कर मर गये थे।" अंग्रेज व्यापारियों को माल पर भारतीय व्यापारियों की अपेक्षा बहुत कम टैक्स देना पड़ता था। इसलिए व्यापारी भी उनके प्रति रोष से भरे हुए थे। भारतीय सिपाहियों को अंग्रेज सिपाहियों के मुकाबले उसी काम के लिए बहुत कम वेतन मिलता था और उन्हें जानवरों से भी बदतर समझा जाता था। अंग्रेज अफसर उनसे चिलम उठवाते और उन्हें गन्दी से गन्दी गालियां देते थे और भारतीय महिलाओं से अपना हरम भरे रखते थे। इससे दिलों में विद्रोह की चिन्गारियां भड़की हुई थीं।

यह संघर्ष आजादी के लिए था। यह बात दूसरी है कि लड़ने वाले एक राष्ट्र की आजादी के लिए नहीं लड़ रहे थे। कुछ ऐसे प्रमाण जरूर मिलते हैं कि उन्होंने विदेशों से मदद लेकर एक संगठित मोर्चा बनाने के प्रयत्न किये थे। रानी झांसी, तात्या टोपे आदि ने राव तुलाराम नाम के एक हरियाणवी राजा को रूस, ईरान और अफगानिस्तान मदद मांगने के लिए भेजा था। किन्तु सामूहिक मोर्चा बनाने के विचार और इरादे सशक्त नहीं थे।

भारत का इतिहास अनेक विरोधी तत्वों से परिपूर्ण है। यहां राष्ट्रीय समस्या पर भी वैचारिक एकता का अभाव रहा। भारतीय शासकों में कुछ ऐसे शासक रहे हैं जो भारतीय संस्कृति और आदर्शों पर अपनी जान की बाजी लगा देना अपना धर्म समझते थे। उन्होंने शाश्वत मूल्यों की पुण्य सलिला को कभी भारतीय जनजीवन के बीच सूखने नहीं दिया। इस भारतीय भूमि पर ऐसे शासक भी रहे हैं जिन्होंने जयचन्द, मीर जाफर और सालारजंग की तरह अपने ही देशवासियों

का सर कुचलकर विदेशी हमलावरों के हाथ मजबूत किये। तीसरी श्रेणी उन शासकों की रही जो इन्द्रियों के सुख को ही सब कुछ समझ उनकी प्राप्ति में डूब गये और देश की बागडोर देश के दुश्मनों को सौंप दी। भारतीय राजनीति में एक शक्ति ऐसी भी रही, चाहे वह पुरोहितों की रही या परिवारों की, जो समुद्र पार करने से और विदेशियों से सम्पर्क करने से देशवासियों को रोकती रही है। यह एक ऐसी बौद्धिकता थी जिसने भारतीयों को कूप मण्डूक बना दिया। जब मुस्लिम हमलावर भारत आये तो अलबरूनी यह देखकर हैरान हो गया कि भारतीय भारत के बाहर की उन्नति के सम्बन्ध में पूरी तरह अनजान थे और आँख मींचकर अपने को सर्वश्रेष्ठ जाति समझे हुए थे। यह ध्यान देने योग्य बात है कि वे भी जो भारत में विदेशियों की जड़ें मजबूत कर रहे थे, यह समझे हुए थे कि वे भारत का हित कर रहे हैं। जब सालारजंग, सिन्धिया और महाराजा गुलाब सिंह ने 1857 का आन्दोलन कुचलने के लिए अंग्रेजों की मदद की तो वे यह समझ रहे थे कि वे समझदारी का काम कर रहे है। भारतीय राजनीति में एक गद्दार धारा है जो देश के विरुद्ध विदेशियों की सहायता करती रही है। जब तक इतिहासकार इस धारा का विश्लेषण नहीं करेंगे, इसको जन्म देने वाले कारणों को नही ढूंढेंगे, तब तक विदेशी ताकत देश में मीर जाफर, आम्भि और उग्रवादी-पृथकतावादी तत्व पैदा करती रहेंगी। विदेशी असर में भारत की एकता से द्रोह करने वाले लोग केवल देशद्रोह ही नहीं करते। उनमें एक मजबूत आस्था भी है कि वे सही काम कर रहे हैं।

1857 में अंग्रेजों की विजय के कुछ प्रमुख कारण निम्न थे :—

एक—अंग्रेजों की अद्वितीय चालाकी। वास्को डिगामा के प्रयत्न से पुर्तगालियों ने भारत में सबसे पहले प्रवेश किया था। फ्रांसिसी, अंग्रेज, पुर्तगाली सभी यूरोपीय शक्तियाँ भारत में प्रभुत्व हेतु परस्पर लड़ रही थीं। इन प्रतिद्वन्द्वियों को अंग्रेजों ने अपनी अद्वितीय चालाकी से परास्त कर दिया। पुर्तगाली राजकुमारी का विवाह अंग्रेज राजकुमार से कर दिया और दहेज में बम्बई जैसा अनमोल रत्न ले लिया।

यह भी एक विडम्बना है कि भारतीय राजनीति में अस्थायी विजय चालाक लोगों की होती रही है। महाभारत में शकुनि और दुर्योधन की चालाकी के आगे पाण्डवों की सरलता और सच्चाई अस्थायी रूप से पराजित हो गयी थी। यूनानियों ने भी राजा पुरु की वीरता और सरलता को अपनी प्रसिद्ध यूनानी चालाकी से पराजित कर दिया था। यूनानियों को खदेड़ने के लिए चन्द्रगुप्त मौर्य को उनसे भी अधिक चालाकी का सहारा लेना पड़ा था जिसका मूल स्रोत है कौटिल्य का अर्थशास्त्र। मौर्यों से शुंग वंश के संस्थापक वृहद्रथ ने अत्यन्त कुटिलता और चालाकी के बल पर ही सत्ता छीनी थी।

पृथ्वीराज की पराजय मुहम्मद गौरी के हाथों इसी दुःखद सत्य का एक अगला

दृष्टान्त है। विजय चालाकी की होती रही और सरलता और वीरता पराजित होते चले गये। औरंगजेब की कहानी सर्वविदित है ही। किस तरह सीधे-सच्चे विद्वान पर औरंगजेब ने अपनी अद्वितीय चालाकी के द्वारा विजय प्राप्त की।

अंग्रेजों ने जिस चालाकी का प्रदर्शन किया वह मुगलों की चालाकी से कहीं बढ़-चढ़ कर थी। वे व्यापारी बनकर आये। सर टामस रो, बर्नियर आदि के जमाने में सपने में भी किसी को आहट नहीं थी कि अंग्रेजों के इरादे इस देश पर शासन करने के हैं। किस खूबसूरती से ईस्ट इण्डिया कम्पनी एक व्यापारी संस्था से राज-नैतिक संस्था बनी और कैसे गवर्नर-जनरल वायसराय में बदल गया और सत्ता कम्पनी के हाथों से इंग्लैण्ड की महारानी के हाथों में चली गयी—यह चालाकी की विजय का एक बेहतरीन नमूना है।

भारतीय इतिहास में चालाकी की चली आ रही इस विजय श्रृंखला को अहिंसा और सत्य के द्वारा महात्मा गांधी ने छिन्न-भिन्न कर दिया। उन्होंने वह रास्ता उजागर किया जिससे भारतीय आदर्शवाद को पहली बार भारतीय राज-नीति में विजय मिली। उन्होंने चालाकों को एक नयी प्रखरता से परास्त किया। कितना अच्छा हो कि इस अनमोल ऐतिहासिक विजय के महत्व को स्वतन्त्र भारत के राजनीतिज्ञ समझें और इस बात की नींव डालें कि भविष्य में भारतीय राज-नीति में हमेशा विजय सत्य, सदाचार और अहिंसा की हो। गांधी ने सिखाया था कि झूठ, चालाकी और हिंसा से सत्ता मिल रही हो तो भी राजनीतिज्ञ न ले। उन्हें भारत का भविष्य बदलना है। जहां चालाकी जीतती रही है वहां सत्य और सरलता को जीत करानी है। उन ऐतिहासिक शक्तियों का निर्माण करना है जो सत्य और सरलता को जितवाये, चालाकी और स्वार्थ को नहीं।

दो—दूसरा कारण था—अपने बीच के मतभेदों को एक मजबूत राष्ट्रीय भावना के सहारे दूर करने की अद्भुत योग्यता। इंग्लैण्ड के तीन प्रमुख हिस्सों स्काटलैण्ड, आयरलैण्ड, और इंग्लैण्ड में हमेशा मतभेद रहे हैं। डॉक्टर जानसन और शेक्सपियर ने भी स्काटलैण्ड के पहाड़ी और असभ्य समझे जाने वाले लोगों का मज़ाक बनाया है। उधर जार्ज बर्नार्ड शा, यीट्स और जोनाथन स्वीफ्ट आदि आयरिश विद्वानों को भी अहसास रहा कि आयरलैण्ड अलग है, उसकी संस्कृति अलग है, वह अधिक आध्या-त्मिक है और इंग्लैण्ड के लोग उसका दमन करते रहे हैं। भारत के अंग्रेज शासकों में आयरिश भी थे, स्काट भी और अंग्रेज भी। यह बात ध्यान देने योग्य है कि इन अफसरों में परस्पर विरोध बना रहा। ईस्ट इण्डिया कम्पनी भी अकेली नहीं रही। एक और अंग्रेज कम्पनी भारत में व्यापार करने लगी थी और दोनों कम्प-नियों में मतभेद हो गये थे। किन्तु इस बात का श्रेय अंग्रेज जाति को जाता है कि वे अपने पारस्परिक मतभेदों को आसानी से इंग्लैण्ड के नाम पर मिटा लेते हैं। उनमें राष्ट्रीय भावना ओत-प्रोत है। वारन हेस्टिंगज को जब भारत के गवर्नर-जनरल के

रूप में ऐडमण्ड वर्क ने ब्रिटिश संसद के समक्ष एक क्रूर, लालची, भ्रष्टाचारी पुरुष सिद्ध कर दिया तो ब्रिटिश संसद ने न्याय और सत्य से अधिक महत्व राष्ट्रीयता को दिया। वारन हेस्टिंगज के सभी अपराध संसद ने एक वाक्य कहकर क्षमा कर दिये, "उसने जो कुछ भी किया है इंग्लैण्ड की शान के लिए किया।"

अंग्रेज जाति की नजरों में राष्ट्रीय भावना सबसे बड़ा गुण है। सत्य, सदाचार, मानवीयता सभी का नम्बर बाद में आता है। यदि राष्ट्रीय हित के रास्ते में न्याय, सत्य और मानवीय सिद्धान्त आये तो उन्होंने बिना झिझके उन सिद्धान्तों का बलिदान कर दिया। राष्ट्रीय हित के नाम पर उनके सांसद पीतल के चेहरे बनाकर ऐसे बिल पास कर सकते हैं कि जिससे मानवता कुण्ठित होती रहे, न्याय ज़ख्मी होकर दम तोड़ दे और सत्य घबराकर उड़ जावे। भारत के विरुद्ध उनकी सबसे बड़ी शक्ति यही राष्ट्रीय भावना थी। जहाँ अंग्रेजों में यह भावना सर्वोपरि थी वहाँ भारतीयों में इसका पूर्णतया अभाव था। 1857 का विद्रोह भड़का किन्तु उत्तर प्रदेश और बंगाल से आगे न बढ़ सका। दक्षिण भारत, पंजाब, कश्मीर, महाराष्ट्र इससे प्रभावित नहीं हुए। मुगल सम्राट बहादुरशाह जफर ने एक राष्ट्र होकर लड़ने का आह्वान किया और पत्र लिखे तो वह कोई राष्ट्रीय भावना पंजाब, कश्मीर, व दक्षिण भारत में नहीं जगा सका। उल्टे सिक्ख फौजों ने अंग्रेजों का साथ दिया। उधर हैदराबाद के शासक सालारजंग ने अपने देश की जंगे आजादी को कुचलने में ऐसा उत्साह दिखाया जिसकी उम्मीद अंग्रेजों को भी नहीं थी। अंग्रेजों ने इस उत्साह से अचम्भित होकर लिखा था :

"अंग्रेजों की आने वाली पीढ़ियों को सालारजंग का एहसान मानना चाहिए क्योंकि उसी के दम से अंग्रेज भारत में जगह बना सके।" उधर कश्मीर के राजा गुलाबसिंह ने भी आजादी की इस लड़ाई को मूर्खता समझा और अंग्रेज बहादुर की खिदमत जी-जान से की। गोरखे भी अंग्रेजों के साथ हो गये। फिर जमींदार और ताल्लुकदार थे जो राष्ट्रीय स्वतन्त्रता के जबरदस्त विरोधी थे।

तीन—तीसरा प्रमुख कारण था अपनी किसी भी पराजय को पराजय न समझना। उसे एक पाठ समझकर नये पाठ की तैयारी करना। नये हमले में से पिछले असफल हमलों की कमियों को निकाल कर अलग कर देना। उनका संगठन विलक्षण था। अनुभवों और तथ्यों से सीखने की योग्यता विलक्षण थी। वे ढूंढ़ते थे दो भारतीय वर्गों के बीच किसी मामूली सी दरार को और उस दरार को बढ़ाने में लग जाते थे। उन्होंने भारतीय मनोवृत्ति का वैज्ञानिक अध्ययन कर उसका शोषण करने की कला को निखारा था। अपनी स्थिति की पूरी सूचना वे पत्रों द्वारा इंग्लैण्ड को भेजते रहते थे। हर विजय पर इंग्लैण्ड से मंत्रणा करते थे। इस तरह पूरा अंग्रेज राष्ट्र मिलकर इस समस्या का सामना कर रहा था। अतः पराजय होते ही नयी कुमुक और नये शस्त्र समुद्र मार्ग से पहुँच जाते थे।

भारतीयों में इस सूझबूझ का अभाव था। यहाँ तक कि 1857 के विद्रोह के प्रमुख नेता बहादुरशाह, रानी लक्ष्मीबाई, नाना फड़नवीस, तात्या टोपे एक बार भी मन्त्रणा के लिए इकट्ठे नही हुए। सब अलग-अलग केवल अपनी समझ के भरोसे शत्रु का सामना करते रहे। वे मन्त्रणा का मूल्य नहीं समझ सके। इस कारण हर पराजय उनके लिए विनाश बन गयी, नया पाठ नहीं। रानी लक्ष्मीबाई की पराजय उसका विनाश बनी। नाना फड़नवीस भी पराजित होते ही नेपाल भाग गये और गुमनामी की मौत मर गये। बहादुरशाह को भी पराजय के बाद नये सिरे से संगठित होने और वार करने का मार्ग न मिला। इसका कारण था :—हम एक राजनैतिक राष्ट्र है—इस भावना का भारतीयों में पूर्ण अभाव। एक राजा हारता था तो उसकी मदद के लिए दूसरा उसके पीछे नहीं था। विद्रोह भी किया तो सब अपनी-अपनी जगह लड़ते रहे। पराजय के क्षण अपने पराजित साथी को सहारा देने के लिए आगे नही बढ़े। उनमें साहस था पर उत्साह नहीं था, वह उत्साह जो पराजय से भी नही मरता और नयी तरकीबें सुझाता है। पराजय को विजय में बदलने का यह उत्साह अंग्रेजो के पास था क्योंकि उनमें राजनैतिक एकता थी, एक राजनीति से उत्पन्न राष्ट्रीय भावना थी।

चार—चौथा कारण था—भारतीय राजाओं, नवाबों, अमीर, उमरावों, जमीदारो और ताल्लुकदारो की अदूरदर्शिता, उनका पतनवादी दृष्टिकोण, ऊँच-नीच का भेद-भाव।

उन्हें एक-दूसरे से मिलने मे भी मूँछें नीची होती महसूस होती थी। किन्तु एक मामूली अंग्रेज अफसर की खुशामद करने में, उसके पैरों मे पगड़ी रखने में और उसकी तफरीह के लिए अपनी हरम की चुनी हुई भारतीय रमणियाँ प्रस्तुत करने मे उनकी मूँछ का एक भी बाल नीचा नहीं होता था। उनकी मनोदशा उन ऐंठे हुए गुलामों की हो चली थी जो अपने मालिक से मार खाने के बाद बदला अपनी पत्नी को पीटकर लेते है। उनमें जबरदस्त हीनता-भावना थी। वे यह सोच भी नही सकते थे कि वे अंग्रेजों को पराजित कर सकते है। 1857 के विद्रोह की शुरुआत केवल दो मामूली-सी बातो पर हुई कि कारतूसों पर चर्बी न लगायी जाये और ऊँचे वर्ण और नीचे वर्ण के सिपाहियों की रसोई अलग-अलग बने। अंग्रजों ने यह माँग स्वीकार नही की तो सिपाहियों ने विद्रोह किया। उन्हें स्वयं अन्दाज नहीं था कि विद्रोह प्रारम्भ में ही इतना सफल हो जायेगा। वे इसकी सफलता के लिए बिल्कुल तैयार नहीं थे। पराजयवाद, दुर्भाग्यवाद उनकी रगों में बस गये थे। वे सोचते थे कि मंगल पाण्डे की तरह उन्हें भी फाँसी लग जायेगी। किन्तु जब विजयश्री मुस्कराई तो वे बदहवास हो गये। क्या करें, यह न समझ सके। भारतीयों की रीढ़ इतनी टूट चुकी थी कि वे विजय बर्दास्त नहीं कर सकते थे। विजय पा लेने के बाद उनके सामने कोई राष्ट्रीय उद्देश्य नही था। बिना सोचे-

समझे नागरिकों को लूटकर उन्होंने अपने ही बहुत से देशवासियों को अपने विरुद्ध कर लिया। फिर निर्दोष अंग्रेज औरतों और बच्चों की हत्या करके उन्होंने अपने आन्दोलन का नैतिक बल तोड़ दिया। वे एक ऐसी आग बन गये जिसका समयानुकूल प्रयोग न हो सका और बुझाया जाना ही जिसकी नियति बन गया।

पांच—भारत में मुगलों के पतन और अंग्रेजों के प्रभुत्व के अनेक कारणों में एक कारण था—समुद्री बेड़े की शक्ति का अभाव। मुगलों में न जाने समुद्र से कैसा भय था। अकबर के समय में ही गोवा पर पुर्तगाल का कब्ज़ा हो गया था। यह मजे की बात है कि अकबर महान गोवा छीनना चाहता था और इस इरादे से उसने गोवा पर आक्रमण भी किया किन्तु असफल रहा क्योंकि पुर्तगाल उस युग की सबसे बड़ी समुद्री शक्ति था और मुगल इस मामले में सिफर थे।

अकबर जो आने वाले तूफान के आसार पहचानने की योग्यता को ही अपनी सफलता का आधार मानता था, किसी मानसिक-ग्रन्थि के कारण समुद्र से आ रही इस सफेद ह्वेल को नहीं पहचान सका जो सौ वर्षों के अन्दर उसके प्रपौत्रों के लहूलुहान सर उनके असहाय सम्राट पिता को पेश करने वाली थी।

समुद्र के प्रति इस गफलत का कारण और उद्गम ढूंढ़ना भारतीय मनोवैज्ञानिकों और इतिहासकारों के लिए एक रुचिकर और लाभप्रद कार्य होगा। हम देखते हैं कि बीसवीं शताब्दी के आरम्भ तक भारतीयों में समुद्र पार न जाने का संकल्प एक धार्मिक और पारिवारिक बन्धन बना रहा। पुत्र को शिक्षा हेतु भी समुद्र पार भेजना माता-पिता अधर्म की बात मानते थे। समुद्र पार का यह भय प्राचीन भारत में नहीं था। स्वयं सम्राट अशोक के पुत्र और पुत्री, महेन्द्र और संघमित्रा, सवा दो हजार वर्ष पहले समुद्र पार गये थे। प्राचीन हिन्दुओं में समुद्र का भय नहीं था। वे समुद्र की पूजा वरुण देवता के रूप में करते थे। समुद्र में जहाज डालकर उन्होंने सुदूर देशों की यात्राएँ की थीं। जैन कथा श्रीपाल मैनासुन्दरी तथा अनेक बौद्ध और हिन्दू कथाएँ इसकी प्रमाण हैं। उस युग के भारतीयों के समुद्री कारनामे पढ़ने में राबिन्सन क्रूसो जैसे लगते हैं।

समुद्र के प्रति भय कब और क्यों आया? क्या यह मंगोल जाति की विशेषता थी जो मुगलों को रक्त में मिली थी? या अरब से आये मुसलमानों के साथ समुद्र का भय भी आया क्योंकि वे समुद्री मार्ग से आये और समुद्र उन्हें याद दिलाता था। अनुर्बर रेतीले अरब की, जहां कुछ भी नहीं उपजता था, जहां बद्दू लुटेरे थे और जहां वे लौट कर जाना नहीं चाहते थे? समुद्र के प्रति यह भय और गफलत यदि मुगल शासकों में न होती तो अंग्रेज भारत में इतनी आसानी से सफल न हो पाते। इंगलैण्ड से पहुँचने वाली कुमुक को यदि भारतीय बेड़े समुद्र में ही रोक सकते तो भारत का इतिहास कुछ और होता।

छः—1857 की क्रान्ति की विफलता का एक प्रमुख कारण यह भी था कि

प्रजातन्त्र का युग शुरू हो गया था। राजाओं, महाराजाओं के दिन लद चुके थे। किन्तु विश्व में आयी इस क्रान्ति के अनुरूप भारत में राजनैतिक चिन्तन का अभाव था। 1857 के क्रान्तिकारी क्रान्ति द्वारा अंग्रेजो की जगह राजाओं को ही बैठाना चाहते थे। अगर उन नेताओं का प्रजातन्त्र के विचारों से परिचय होता तो उनकी क्रान्ति की लहरों को आगे बढ़ने का मार्ग मिल जाता। किन्तु वे बूढ़े बादशाह बहादुरशाह तक जाकर रुक गये। विद्रोही सैनिक केवल भावावेश में बहादुर-शाह की ओर बढ़े थे। यह कहना मुश्किल है कि सफल होने की दशा में वे बहादुर-शाह को सम्राट स्वीकार किये रहते। क्या इस क्रान्ति के बाद और क्रान्तियाँ न होती? एक क्रान्ति की सफलता केवल चिनगारी के भड़क जाने से नहीं होती। इसके पीछे कुछ नये विचार होते हैं। किसी नयी दिशा में बढ़ने का संकल्प होता है। इन सभी बातो का 1857 के स्वतन्त्रता संग्राम मे अभाव था। एक सशक्त संगठित राष्ट्र न होने के कारण पूरा देश छोटे-छोटे राज्यों में असंगठित रूप से बिखरा हुआ था। शासक झूठे अभिमान से बुरी तरह ग्रस्त थे। वे एक दूसरे के गुणो की सराहना को भी अपना अपमान समझते थे। परस्पर अन्तर्राज्यीय सह-योग से कुछ सामूहिक समस्याओं को हल करने की बात उनकी कल्पना के बाहर थी। वे विलास, दमन और अज्ञान को शासकों का गुण समझते थे। उनके विचारों मे राष्ट्र जैसी कोई चीज नही थी। ये सामन्तवाद के प्रतीक थे जिसकी कमर टूट चुकी थी। वे यह नही देख सके कि विश्व से राजाओं का युग विदा ले रहा था और प्रजातन्त्र का युग आ गया था। यदि उन्होने प्रजातन्त्र का नारा 1857 में दिया होता तो उन्हें नयी ऐतिहासिक शक्तियों का बल प्राप्त हो जाता, एक ऐसा नैतिक आधार मिल जाता जिसके आगे अंग्रेज टिक न पाते। सामन्तवाद के इन टूटते प्रतिनिधियों की जगह कोई दूसरा वर्ग हमारे देश मे नहीं था जो नये विचारों के साथ सत्ता इनके हाथों से ले सकता। किसानों मे कोई जागृति नही थी। मध्य-वर्गीय लोग गुलाम तौर-तरीकों और वर्ण प्रधान समाज व्यवस्था के कारण स्वतन्त्रता के अर्थ भूल चुके थे। ब्रिटिश प्रजातन्त्र भारतीय सामन्तवाद से लड़ रहा था और बालपुरुष प्रजातन्त्र के साथ था। इन सामन्तवादी पतनोन्मुख शासकों का मुकाबला हो रहा था इंग्लैण्ड के नवोदित सशक्त मध्यवर्गीय लोगों से। उन्होंने हाल ही में अपने देश के सामन्तवादियों को भी पराजित किया था। उनके पास नयी विचारधारा थी, स्वतन्त्रता का नया आवेश था और सबसे बढ़कर वे उस वणिक संस्कृति के अग्रदूत थे जो तेजी से, उद्योगों और व्यापार के द्वारा विश्व में गला हथियाती जा रही थी। उनके पास बल था, धन था, संगठन था और लड़ने के लिए नये-नये विचार और शस्त्र थे। उनके पास आशा थी और भविष्य की योजनाएँ।

साथ—भारतीयों में परस्पर एकता भी नहीं थी। यह भी उनकी पराजय का

कारण बना। राजपूत और बंगाली मराठों के खौफनाक हमलों और बर्बरता को भुगत चुके थे और उनसे घृणा करते थे। राष्ट्र के नाम पर या अपने प्रान्त या राज्य के नाम पर लड़ने का किसी में जोश नहीं था। इसलिए भारतीय सैनिक सिर्फ तनख्वाह के लिए लड़ते थे। यही कारण है कि अंग्रेज भारतीय सैनिकों की मदद से भारत जीतने में सफल हो गये।

बिहार और उत्तर प्रदेश के सैनिकों ने ब्रिटिश नेतृत्व में सिखों और अफगानों को हराया था। वे उन्हें अपने से घटिया समझते थे। उधर सिख भी उनके प्रति ऐसी ही भावना रखते थे। अगर अंग्रेजों को नाज है कि उन्होंने तलवार के बल पर भारत जीता तो इतिहास में यह स्पष्ट है कि इन तलवारों को चलाने वाले तीन चौथाई हाथ भारतीय थे।

आठ—जब भी कोई विदेशी शक्ति किसी देश को गुलाम बनाती है तो अपने साथ एक नये किस्म का भय लेकर आती है। यह भय पराजित जाति के लिए एक नयी किस्म का भय होता है। इससे बचाव का साधन वह नहीं जानती और बदहवास हो जाती है।

अंग्रेजों ने एक नयी तरह का भय भारतीयों में जगाया था। वह भय 1857 की क्रान्ति को विफल करने का एक प्रमुख कारण बना।

अंग्रेज जानते थे कि भारत के लोग मुसीबत में भय से काम नहीं लेते। राजपूतों के जौहर, अफगानों की निर्भीकता और साधारण भारतीय कृषकों के साहस का अनुभव उन्हें हो चुका था। वे जानते थे कि अपनी वीरता और शक्ति का भय वे भारतीयों के हृदयों में नहीं जगा सकते। भारतीय मृत्यु से नहीं डरता। उसका दर्शन आत्मा की अमरता में विश्वास रखता है। वह मृत्यु को नवजीवन का द्वार मानता है। अंग्रेज अचम्भित थे देखकर कृशकाय भारतीय किसानों को जो जंगली पशुओं से घिरे गाँवों में ग्रीष्म की रातों को बच्चों सहित घरों से बाहर खुले में सोते थे, जो साँपों के लिए प्रसिद्ध देश में अंधेरी बरसती रातों में बिना रोशनी के खेतों में विचरते थे। उनकी जीवन प्रणाली ही ऐसी थी कि जंगली पशुओं और डाकुओं से डरकर उनका काम नहीं चल सकता था। मृत्यु उनके लिए ऐसी कोई चीज नहीं थी जो पूर्ण सुरक्षा और दवादारू के बाद ही आती हो। उसके जीवन दर्शन और हजारों वर्षों से चली आ रही जीवन-प्रणाली ने उसे प्रतिदिन मृत्यु से पुनर्जन्म लेकर जीने की कला सिखाई थी। मृत्यु के भय से अपने को एक कैप्सूल की जिन्दगी देना उसने नहीं सीखा था। मृत्यु का सामना उसने किया था ईश्वर को कदम-कदम पर याद करके। वह जानता था कि मृत्यु भी उसे मृत्यु नहीं दे सकती क्योंकि जीवन मृत्यु, यश, अपयश, हानि-लाभ सब ईश्वर के हाथ में है।

निर्भीक भारतीयों की आत्मा को अंग्रेजों ने कैसे भयग्रस्त किया? हमलावर हमेशा ही भारत में आते रहे थे और जुल्म करते रहे थे। न सिकन्दर न तोरामन,

न मिहिरगुल, न तैमूर—कोई भी अपने जुल्म से भारतीय आत्मा को भयभीत नहीं कर पाया था। जुल्मो सितम के आगे भारतीयों ने कभी घुटने नहीं टेके, उनकी आत्मा कभी नहीं मरी।

अंग्रेज एक व्यावहारिक जाति है। उसने हमेशा यथार्थ से अपने शस्त्र बनाये हैं। उन्होने भारतीय स्वभाव का वैज्ञानिक अध्ययन किया था। अनेकों युद्धों ने और 1857 के विद्रोह ने उन्हें अच्छी तरह बता दिया था कि भारतीय आत्मा को भयभीत नहीं किया जा सकता, किन्तु उसे सुलाया जा सकता है। वे जान गये थे कि कुछ परिस्थितियाँ हैं जिनका सामना भारतीय आत्मा नहीं कर सकती, जिनके आगे वह भौचक्की और किंकर्तव्यमूढ़ हो जाती है और सो जाती है। उन्होने अपनी प्रसिद्ध अंग्रेज चालाकी का इस्तेमाल करके वे परिस्थितियाँ रचीं जिनके बीच पड़कर भारतीय आत्मा स्तम्भित हो जायें, उसका अर्जित अनुभव उसकी सहायता न कर सके और वह सो जाये। वे जानते थे कि एक बार भारतीय आत्मा को नींद ने घेर लिया तो उसका उठना मुश्किल हो जायेगा और उन्हें आराम से शासन करने का अवसर मिल जायेगा। "सोते कुत्ते को सोया रहने दो" और जो सो नहीं रहे है उन्हें सुला दो—अंग्रेज नीति का सार यही था। भारत को सुलाकर, चीन को अफीम की नींद देकर अंग्रेजो ने पूर्व में शासन किया था।

आत्मा को सुलाने का सबसे आसान तरीका है—अप्रत्याशित व्यवहार और विश्वासघात। अंग्रेज सीधे-साधे व्यापारी बनकर आये। अपने व्यवहार से उन्होंने जहाँगीर के जमाने से यह विश्वास दिला रखा था कि उन्हें राजनीति से कोई मतलब नहीं है। भारत मे जो भी हमलावर पहले आये वह शस्त्र लेकर हमले के इरादे से आये थे। अंग्रेजो ने अर्थनीति को राजनीति बनाया था। बहुत देर में भारतीय समझ सके कि सर टामस रो के जमाने से जो छोटे-छोटे व्यापारिक अधिकार वे माँगते और मजबूत करते रहे थे वे केवल आर्थिक नहीं थे, उसके पीछे एक चतुराई थी जो समय का सहारा पाकर एक षड्यन्त्र बन गयी। भारत में व्यापार बनिये करते थे। उन्हें कभी भी राज्य सत्ता में रुचि लेते हुए नहीं देखा गया था। पूरा भारतीय समाज वर्ण व्यवस्था की मजबूत दीवारो से बँधा था। उनकी यही वर्ण व्यवस्था उनके लिए काल बन गयी। भारतीय यह कल्पना भी नही कर सकते थे कि अंग्रेज व्यापारी राज्य सत्ता छीन सकते है। अंग्रेज व्यापारियों ने बहुत पहले, स्वयं सम्राट औरंगजेब के जमाने में, अपने इरादों की झलकियाँ दिखा दी थी। हज के लिए जाती सैयद महिलाओं से भरा जहाज गायब कर दिया था। इस अपराध के लिए औरंगजेब ने जो दण्ड दिया था वह भी स्वीकार नहीं किया था। किन्तु उनके इरादों को कभी भारतीयों ने गम्भीरता से नहीं लिया। उनकी झूठी वर्ण व्यवस्था और समाज का पतित संगठन उनके झूठे गर्व को यह सोचने नहीं दे सकता था कि अंग्रेज बनिये उनसे एक दिन राज्य छीन लेंगे।

भारतीयों ने जब राजनीति को अर्थनीति के अधीन होते देखा तो उनकी अक्ल चकरा गयी। वह युग था जब अर्थशास्त्र नये क्षितिज खोज रहा था। अंग्रेज विद्वान एडम स्मिथ, मिल आदि ने साम्राज्य विस्तार का आर्थिक तरीका सुझा दिया था। अंग्रेजों ने इन विचारों का उपयोग व्यापार के माध्यम से राज्य-सत्ता हथियाने के लिए बड़ी कुशलता से किया।

भारतीय बनियों ने समूचे इतिहास में मर्यादा का निर्वाह किया था। उन्होंने राजाओं और नवाबों को तब भी अपने से अधिक महत्व दिया था जब वे बुरे दिनों से गुजर रहे थे। यह इतिहास प्रसिद्ध है कि राणा वन-वन भटक रहे थे और उन्हें घास की रोटियाँ भी नसीब नहीं हो रही थीं तो भामाशाह ने अपनी करोड़ों की सम्पत्ति उनके चरणों में रख दी थी। भारतीय व्यापारियों ने कभी भी राजाओं और नवाबों की बराबरी करने की चेष्टा नहीं की थी।

अत: जब अंग्रेज व्यापारियों ने शक्ति बढ़ने के साथ, नवाबों और राजाओं के साथ बदतमीजी करनी शुरू की और स्वयं मुगल बादशाह को भी अपमानित करना शुरू कर दिया तो इससे भारत के राजसी घराने स्तम्भित रह गये। वर्ण व्यवस्था कि झूठी दीवार के भीतर विशेष अधिकारों का मजा लेते हुए भारत के शासक वर्ग को कोई रास्ता नहीं मिला। स्वार्थ सिद्धि हेतु अपनाया गया जातिवाद का झूठ पूरी जाति की बुद्धि पर पर्दा बनकर बैठ गया था। वह युग लखनवी तह-जीब का युग था। अंग्रेज बनियों की बदतमीजी और धृष्टता ने भारतीय राजाओं और नवाबों को एक नये किस्म का मानसिक आघात दिया। कम्पनी के अफसरों को देखकर वे डरने लगे थे विशेषकर इसलिए कि वे दरबार में सबके सामने बद-तमीजी न करने लगें, अपमानित न कर दें। इस भय ने उनकी आत्मा को आसानी से सुला दिया।

नौ—1857 की क्रान्ति की असफलता का एक और प्रमुख कारण था सब-सिडियरी संधि—लार्ड वेलेजली भारत में ब्रिटिश सत्ता का सम्भवत: सबसे बड़ा शिल्पी था। उसने सबसिडियरी सन्धि के रूप में एक ऐसा चालाक शस्त्र ईस्ट इण्डिया कम्पनी को दिया जिसमें निहित अन्याय की जितनी निन्दा की जा सकती है उतनी ही ब्रिटिश स्वार्थों को पूरा करने की उसकी सूझबूझ की तारीफ करनी होगी। यह सन्धि मजबूर राजाओं और नवाबों के शोषण और ब्रिटिश अन्याय की अद्भुत मिसाल थी। इसमें लालच, अन्याय और शोषण इतने साफ शर्मनाक थे कि उन्होंने ब्रिटिश प्रधानमन्त्री पिट को वेलेजली के खिलाफ कर दिया। पिट का ख्याल था कि वेलेजली जैसा काईया प्रशासक कहलाने के योग्य नहीं था। लेकिन यह अंग्रेज चरित्र का दोगलापन है कि इस सन्धि को वे नैतिक आधार पर बुरा कहते रहे किन्तु अपने हित में लागू भी किया।

सबसिडियरी सन्धि के अनुसार हर रियासत में एक अंग्रेज फौज रखी जाने

लगी । एक ब्रिटिश रेजीमेन्ट भी रहने लगा । इस फौज का खर्चा उस राजा को वर्दाश्त करना पड़ता था । किन्तु यह फौज उनके कहने में नहीं होती थी । ब्रिटिश रेजीडेण्ट ही उसे आदेश दे सकता था । यह रियासत किसी भी विदेशी ताकत फ्रेंच, पुर्तगाली या अन्य किसी से कोई सम्बन्ध नहीं रख सकती थी । यदि उस रियासत पर कोई अन्य राजा हमला करता था तो यह ब्रिटिश फौज उसकी रक्षा करने का आश्वासन देती थी ।

वेलेजली ने बिना कम्पनी का एक पैसा खर्च किये एक बहुत बड़ी अंग्रेज सेना भारत में खड़ी कर ली जो रियासतों के खर्चे पर पल रही थी किन्तु पूरी तरह कम्पनी के अधीन थी । इस फौज ने हर भारतीय विद्रोह को कुचल दिया । इस नीति ने भारतीय शासकों को पूरी तरह कम्पनी पर आश्रित कर दिया । उनका शौर्य, आत्मबल और आत्माभिमान नष्ट हो गया । वे ब्रिटिश रेजीडेण्ट के हाथों में कठपुतली हो गये ।

ये अधिकार तो अंग्रेजों को सन्धि के अनुसार प्राप्त हो गये । इसके अलावा कुछ अधिकार थे जो उन्हें सन्धि का मनमाना उल्लघंन करके प्राप्त होते रहे । अंग्रेज सन्धियों को मानने और साथ ही साथ उल्लघंन करने की कला में सिद्धहस्त थे । वे सन्धि को उस हद तक मानते थे जहाँ तक वह उनके हित में होती थी । जहाँ उनका हित आड़े आता था वे अपनी चालाकी से काम लेते थे । सबसिडियर सन्धि में यह लिखा हुआ था कि अंग्रेज रेजीडेण्ड रियासत के भीतरी मामले में हस्तक्षेप नहीं करेगा । किन्तु रेजीडेण्ट खुलकर हस्तक्षेप करते थे और आन्तरिक राजनीति में भाग लेते थे । कमजोर भारतीय प्रशासक असहाय थे । सबसिडियरी सन्धि के अन्तर्गत भारतीय रियासतों में फौजें पल रही थीं जिन पर हुक्म अंग्रेज रेजीडेण्ट का था । वे फौजें 1857 के आन्दोलन को कुचलने में बहुत काम आयीं ।

भारत के अंग्रेज शासकों को यह विश्वास था कि मानव का सम्पूर्ण व्यक्तित्व तर्कजन्य है । अतः सुसंस्कृत जाति वह है जिससे सभी कर्म तर्क की कसौटी पर खरे उतरे । यूरोपीय विचारधारा को तब तक फ्रायड का झटका नहीं लगा था । वे तब तक यह नहीं जानते थे कि 'तर्क मानव व्यक्तित्व का केवल एक अंग है, तर्क को पूरा मानव व्यक्तित्व मान लेने से अन्य अंग घुट जाते है, और अपराध तथा मानसिक रोग बनकर प्रकट होते है ।'

नतीजा यह हुआ कि जितनी आस्था के साथ अंग्रेज शासक यह माने हुए थे कि वे 'तर्कयुक्त पशु' (रेशनल एनिमल) है उतनी ही पूर्णता के साथ उनमें एक तर्क-विहीन, नृशंस और लोलुप पशु भी पल रहा था । उनका यह दोगला व्यक्तित्व भारतीयों की समझ से बाहर था । भारत में मनुष्य को एक 'तर्कयुक्त पशु' समझने की कोई परम्परा नहीं थी । उनका व्यक्तित्व जैसा भी था, समन्वित था, एक था । वे यह नहीं जानते थे कि मानव व्यक्तित्व को केवल तर्क की अभि-

व्यक्ति मानने वालों में प्रतिक्रिया स्वरूप एक तर्क-विहीन पशु भी रहने लगता है। वे एक ओर तो अंग्रेजों की तर्कयुक्त जीवन शैली से इस हद तक प्रभावित थे कि उनके आगे अपने को हीन महसूस करते थे। अंग्रेजों की न्याय व्यवस्था में, उनके समाज में और उनके कर्मों में सभी चीजें स्पष्ट, नपी-तुली और सिद्धान्तों पर आधारित थीं। यह सफाई और तर्कसंगतता भारतीय समाज में नहीं थी। यहाँ जातिवाद, भेद-भाव, ऊँच-नीच के अन्तर थे। यहाँ हिन्दू स्त्रियों को जबरदस्ती सती बनाने की परम्परा थी। परित्यक्त मुस्लिम औरतों को पति से कोई खर्चा-पानी नहीं मिलता था। धर्म के नाम पर अनेक अत्याचार होते थे। अत: स्वाभाविक था कि भारतीय अपने आप को अंग्रेजों के अनुशासन और तर्कसंगतता के आगे हीन महसूस करने लगे थे। अंग्रेज अपने हर वार को तर्क पर आधारित कर देते थे और भारतीय शासकों को महसूस करा देते थे कि इस सजा के लिए जिम्मेदार वे स्वयं है। इससे उनका मनोबल टूट जाता था।

किन्तु इससे आगे जो अंग्रेज करते थे वह भारतीयों की समझ के परे था। यह पूरी जाति दोगले व्यक्तित्व की हो सकती है, यह भारतीयों की समझ में नहीं आ सकता था क्योंकि ऐसा उन्होंने कभी नहीं देखा था। वे अंग्रेजों की कथनी और करनी के भेद को समझ नहीं सकते थे। वे हैरान थे कि इतने प्रबुद्ध और मानवतावादी बौद्धिक सिद्धान्तों को मानने वाले लोग कैसे घृणित कर्म कर सकते हैं। उन दिनों समाचार पत्र तो थे नहीं। सुनी-सुनायी बातें थी। अतः अंग्रेजों की करनी के सम्बन्ध में अनिश्चितता का भरपूर लाभ अंग्रेजों को मिला।

जो राजा, नवाब और उनके निकट के दरबारी अंग्रेजों के इस दोगलेपन को भुगत चुके थे उनकी बातों को जन-समर्थन नहीं था। उनका स्वयं का शासन अच्छा नहीं था और जनता उनसे त्रस्त थी। अत: शासकों और जनता की भावनाओं के बीच एक लम्बी खाई थी। इसका भी पूरा लाभ अंग्रेजों को पहुँचा।

नतीजा यह हुआ कि अंग्रेज भारतीय शासकों को अकेला (आईसोलेट) करने में सफल हो गये। उन्हें एक दूसरे से ही नहीं उनकी जनता से भी अलग करके उनके सिरों पर बाल से बँधी तलवारें लटका दी। शत्रु बनकर उनके हृदयों में भय जगाने की चेष्टा नहीं की। वे जानते थे कि यह उनके आत्मसम्मान के लिए असह्य होगा। वे विद्रोह का मार्ग चुन लेंगे। अतः उन्होंने तर्कयुक्त आचरण से उनकी आत्मा को सुला दिया, जिसके चारों ओर भय का पानी फैला दिया गया। इस तरह उनकी आत्मा की नींद भी नहीं टूटी और वे हरदम भय के वातावरण से घिरे भी रहने लगे।

कोई तर्क देकर उन्होंने झाँसी की रानी को बतला दिया कि उन्हें दुख है कि उनके दत्तक पुत्र को मान्यता नही दे सकेंगे। इसी तरह कोई तर्क देकर उन्होंने नाना फड़नवीस की पेंशन बन्द कर दी। तर्कों की इसी श्रृंखला में उन्होंने कोई

तर्क देकर भारत के अन्तिम सम्राट बहादुरशाह जफर को भी यह बता दिया कि वे लालकिला खाली कर दें।

तर्क एक ऐसी चीज है जो मनुष्य की उम्मीद बनाये रखती है। अगर उसकी उम्मीद टूट जाये तो वह विद्रोह कर दे, उसकी आत्मा की नींद टूट जाये। किन्तु अंग्रेज सयाना था। उसने भारतीय हुक्मरानों को तर्क की अफीम चटाई थी। अतः नाना साहिब अंग्रेजों के सामने यही तर्क प्रस्तुत करने में लग गये कि वे क्यों पेंशन के हकदार हैं। झांसी की रानी भी नये-नये तर्क प्रस्तुत करने में लग गयीं कि क्यों उनके पुत्र को वे ही अधिकार मिलने चाहिए। उधर बूढ़ा नाज़ुकदिल, दर्दमन्द सहृदय कवि बादशाह यह तर्क प्रस्तुत करने में लग गया कि भारत का सम्राट होने के नाते उसे पूर्ण अधिकार है कि वह लालकिले में रहे। तर्क की इस दलदल में इन हुक्मरानों को फँसाकर अंग्रेज हृदयों में छुपा साम्राज्यवादी पशु बिना आवाज की हँसी हँसता रहा। प्रसिद्ध भी है कि अंग्रेज आवाजदार हँसी नहीं हँसता क्योंकि इंगलैण्ड का ठण्डा मौसम इसकी इजाजत नहीं देता। इस कथन में यह अवश्य है कि 1857 में सैनिकों ने विद्रोह न किया होता तो तर्क के जाल में बुरी तरह फँसे भारतीय शासक कभी भी विद्रोह की पहल न करते। सैनिक विद्रोह छावनियों में उत्तर प्रदेश से बंगाल तक फैल गया था। विद्रोही सैनिक अंग्रेज सत्ता को उखाड़ फेंकने के लिए नेतृत्व की माँग करने लगे और उन्होंने मार्च करके अपने बूढ़े बादशाह को घेर लिया और उसे अपनी स्वतन्त्रता संग्राम का केन्द्र बना दिया। बादशाह को तर्क की दलदल से निकल कर विद्रोह के घोड़े पर बैठना पड़ा। कैसा मार्मिक दृश्य रहा होगा वह एक दलित जाति में स्वतन्त्रता के नये अंकुरों के प्रस्फुटन का। बुरे बर्ताव और कारतूसों में लगी चर्बी से तंग आ कर कुछ सिपाहियों ने विद्रोह किया और वे लपटें देखते-देखते परिस्थितियों की हवा पाकर स्वतन्त्रता की ज्वाला बन गयी। वे जो इसे स्वतन्त्रता की लड़ाई नहीं मानते क्योंकि इसके पीछे न कोई पूर्वयोजना थी न नेतृत्व, किताबी बातें करते हैं। वे तर्क के आधार पर इतिहास लिखते हैं। वे यह नहीं जानते कि तर्क से इतिहास लिखा जा सकता है जरूर किन्तु तर्क के इतिहास का निर्माण नहीं होता। सिपाहियों विद्रोह करने के बाद लाचार हो गये थे। कोई रास्ता नहीं सूझ रहा था। कोई उद्देश्य सामने नहीं था। ऐतिहासिक शक्तियों ने अपने आप वह हालत रच दी थी कि अंग्रेज का तर्क जाल टूट गया था। तर्क के अद्भुत प्रयोगों से उन्होंने भारतीयों की आत्मा को सुला दिया था। 1857 के विद्रोह को जब कोई राह न मिली तो उसके आवेग ने उस तर्क जाल को तोड़ दिया। तर्क के जादू के जोर से सोयी आत्मा जाग गयी। जगने पर जो स्वर उसे अपने में फूटता मिला वह था स्वतन्त्रता। अंग्रेजों को मिलकर खदेड़ने का जो आह्वान बादशाह ने किया था वह इस स्वर को मिले शब्द मात्र थे। यह सही है कि तब तक स्वतन्त्रता की

मांग इतनी स्पष्ट नहीं थी जितनी तिलक और गांधी के जमाने में हुई। मगर वह स्वतन्त्रता शिशु की पहली चीत्कार थी, वह चीत्कार जिसके साथ एक नवजात शिशु अपने जन्म की उद्घोषणा करता है। वह स्वतन्त्रता की पुकार थी। झांसी की रानी, नाना साहेब, आदि के हृदयों में भी भारत माता का दर्द कुछ ऐसी ही अस्पष्ट स्वतन्त्रता की तड़प बनकर पहली बार उभरा। अंग्रेजों की तर्क संगतता का ढोंग एक बिजली की कौंध की तरह उन्हें दिखाई देने लगा। वे जान गये अपने अधिकार अंग्रेजों से लेने का मार्ग तर्क नहीं विद्रोह है।

इस तरह भारत की छाती में स्वतन्त्रता का दर्द पहली बार उठा था। यह दर्द एक भूकम्प की तरह पूरे भारत ने महसूस किया था। यही दर्द का नाता था जिसने एक राजनैतिक राष्ट्र का मानचित्र, अस्पष्ट मौर धुंधला सही, पहली बार भारतीय हृदयों में उकेरा था। ☐

अंग्रेज शासक

नेपोलियन ने इंग्लैण्ड को "बनियों" का देश कहा था। अगर भारत में अंग्रेजों की करतूतों पर गौर किया जाये तो यह उक्ति गलत नहीं लगती। ईस्ट इण्डिया कम्पनी को जब परिस्थितियों ने और भारतीय शासकों की दुर्बलता ने राजा बनाने की शक्ति दे दी तो भी उसका व्यवहार व्यापारियों जैसा ही रहा। उसके व्यवहार में जन्मजात शासकों जैसी गरिमा कभी नहीं आयी। उत्तराधिकारी के झगड़े में अगर कम्पनी किसी राजकुमार का साथ देती तो उसके गद्दी पर बैठते ही अपनी मदद की कीमत रुपयों, हीरों-जवाहरातों की शक्ल में माँग लेती थी। कम्पनी के मामूली से मामूली क्लर्क से लेकर गवर्नर-जनरल तक रुपये कमाने को ही अपना परम लक्ष्य बनाये हुए थे। क्लाइव, वारेन हेस्टिंगज सरीखे गवर्नर-जनरल भी इसके अपवाद नहीं थे। धन कमाने को लक्ष्य बनाना एक बहुत खतरनाक तरीका है, किसी दूसरे देश पर हुकूमत करने का। साम्राज्यवादी ब्रिटेन को इसका अनुभव उन्नीसवीं शताब्दी के पूर्वार्ध में होने लगा था। कम्पनी के अधिकारी और क्लर्क अपनी-अपनी तिजोरियाँ भरने में इस लगन के साथ मगन थे कि क दिवालिया होने लगी थी। और तब कम्पनी की आर्थिक स्थिति सुधारने के नैतिकता का उपदेश देने वाले अंग्रेज को खुद एक और नैतिकता का बलिद करना पड़ा था। चीन वालों को अफीम की लत पड़वानी पड़ी थी। अंग्रेजों खुलकर चीन को अफीम बेचनी शुरू की। इसके लिए किसी पादरी ने उ मानवता के प्रति अपराध का दोषी ठहराया क्योंकि वे जो भी कर रहे थे इंग्लैण्ड के लिए कर रहे थे। वारेन हेस्टिंगज के मामले में संसद यह सिद्ध कर चुकी थी कि जिस अनैतिक कार्य से इंग्लैण्ड को आर्थिक लाभ हो वह अनैतिक नहीं रहा। एडवर्ड थामसन और जी० टी० गेरट, के अनुसार सन् 1815 के आसपास बंगाल में अंग्रेजों के लिए जो धन आ रहा था वह चीन के साथ की गयी अफीम की तस्करी से प्राप्त धन था।

1757 में प्लासी के युद्ध के बाद जिस नवाब को क्लाइव ने तख्त पर बैठाया था उसने एक निपुण व्यापारी की तरह दो लाख पौण्ड बतौर मेहनताने के वसूल

कर लिये थे। उसी अनुपात में क्लाइव के अधीनस्थ अफसरों और क्लर्कों ने भी नवाब से अपना-अपना नजराना वसूल कर लिया। 1751 में अरकोट में अपने चुने हुए उत्तराधिकारी को गद्दी दिलाने के बाद भी क्लाइव ने जी खोलकर रिश्वत ली थी और एक अमीर बनकर इंग्लैण्ड लौटा था। हर अंग्रेज जो इंग्लैण्ड में असफल हो जाता था वह कम्पनी की नौकरी कर लेता था और भारत में आ जाता था। "वह जानता था कि तीन वर्षों की नौकरी में ही इतनी रिश्वत कमा लेगा कि आराम से इंग्लैण्ड लौटकर एक रईस की जिन्दगी गुजार सके।" (जे० एच० प्लम्ब और टी० जी० पी० स्पीयर)

इस सत्य से इन्कार नहीं किया जा सकता कि कुछ अंग्रेज शासक सहृदय थे। वह भारत की दयनीय दशा को सुधारना चाहते थे। वे नहीं चाहते थे कि अंग्रेज भारत को गरीब करते चले जायें। वे भारतीयों को सम्मान का जीवन देना चाहते थे। वे न्याय के मन्दिर में अंग्रेजों के प्रति पक्षपात को पसन्द नहीं करते थे। किन्तु उनकी भी सहानुभूति सीमित थी और ब्रिटेन की साम्राज्यवादी नीति के अन्तर्गत थी। महत्वपूर्ण बात यह है कि भारत में अंग्रेजी नीति जिस ढंग से विकसित हुई वह अंग्रेज स्वभाव के कालेपन को ही उजागर करती है। वह स्पष्ट करती है कि फ्रांस की क्रान्ति के बाद "स्वतन्त्रता, समानता, भ्रातृत्व" का जो सिद्धान्त यूरोप में अठारहवीं शताब्दी में आम लोगों तक पहुँच चुका था उस सिद्धान्त से उन्नीसवीं और बीसवीं शताब्दी के अंग्रेज शासक पूर्णतया अपरिचित थे। यदि उन्होंने उस सिद्धान्त को किताबों में पढ़ा था तो वह बात आक्सफोर्ड, और कैम्ब्रिज विश्वविद्यालयों की चारदीवारी तक ही सीमित थी। इस सिद्धान्त को वे भारतीय प्रशासन मे उतारने को बिल्कुल तैयार नहीं थे।

अठारहवीं शताब्दी के अंग्रेज भारतीयों के साथ समानता का व्यवहार करते थे। उन्होंने भारतीय तौर-तरीके, खान-पान और वस्त्र भी अपना लिये थे। वे जिन भारतीय महिलाओं से विवाह करते थे उन्हें सम्मान का दर्जा देते थे। यद्यपि भारतीय रीति-रिवाज उनके अपने रीति-रिवाजों से भिन्न थे, तथापि वे उनका आदर करते थे और उनको समझने की चेष्टा करते थे। उनमें से बहुतों ने भारतीय दर्शन और साहित्य के गहन सत्य और सौन्दर्य को समझने की ईमानदार चेष्टा भी की थी। ऐसी कोई भावना उनमें नहीं थी कि ईश्वर ने उन्हें विशेष दूत बनाकर वहशी भारतीयों पर शासन करने के लिए भेजा है। टी० जी० पी० स्पीयर की पुस्तक "नवाब" उपरोक्त कथन को ऐतिहासिक उदाहरणों के साथ सिद्ध करती है।

अंग्रेजों की नीति में उन्नीसवीं शताब्दी में तो दिन-रात जैसा बदलाव आया। उससे यह स्पष्ट हो जाता है कि अठारहवीं शताब्दी में अंग्रेजों ने जिस उदारता और सहिष्णुता का परिचय दिया था वह उनका चारित्रिक गुण नहीं था। वे गुण उनकी

आत्मा के विकसित होने के लक्षण नहीं थे। उनकी मिलनसारिता और उदारता का कारण था उनका भय। वे डरते थे कि भारतीय भड़क न जायें। उनकी संख्या बहुत कम थी। वे वास्तव में भारत को क्या समझते थे यह वारेन हेस्टिंगज के निम्न शब्दों से स्पष्ट हो जायेगा :

"हिन्दू लगभग पशु तुल्य होता है। पशु की तरह उसकी रुचि भी केवल पशु-कर्मों तक ही सीमित है। बहुत कम पेशों में वे लगे हुए हैं और उनमें भी उनकी योग्यता बहुत निम्न स्तर की है। ऐसी योग्यता कोई भी पशु इतने लम्बे समय तक इन पेशों में लगे रहकर हासिल कर सकता है। ऐसा लगता है कि उनकी बुद्धि कुत्ते, हाथी और बन्दर की बुद्धि से ऊपर उठ ही नहीं सकती। यह सब देखकर पूर्ण विश्वास हो जाता है कि इनकी शासन नीति कभी भी उन्नत नहीं रही होगी।"

यह बात हिन्दुओं के सम्बन्ध में एक अंग्रेज गवर्नर-जनरल ने कही है, उन भारतीयों के सम्बन्ध में जिनकी बौद्धिक श्रेष्ठता को सवा दो हजार वर्ष पहले स्वयं सिकन्दर और हेरोडोट्स ने स्वीकार किया था, जिनकी सभ्यता और उद्योग-धन्धों की मुक्त कण्ठ से प्रशंसा अपने युग के सर्वश्रेष्ठ इतिहासकार प्लानी ने की थी और दुःख प्रकट किया था कि भारत अपने श्रेष्ठ उद्योग-धन्धों के बल पर रोम की सारी दौलत अपने तटों की ओर खींच लेता है। ये वही हिन्दू थे जिनकी महान और उदार शासन प्रणाली की प्रशंसा ह्वेनसांग और इत्सिंग ने उस युग में की थी जब अंग्रेजों के पूर्वज वस्त्रों से अपरिचित थे, जब अंग्रेज वहशी जंगलियों का जीवन जीते थे, जब वे रंगों का प्रयोग केवल इतना करना सीख पाये थे कि कैसे खुले नितम्बों को विभिन्न रंगों से रंगकर अपने अलग-अलग व्यक्तियों की पहचान करायी जाती है। वारेन हेस्टिंगज ने ये विचार उन हिन्दुओं के प्रति व्यक्त किये थे जिनके पूर्वजों ने पांच हजार वर्ष पहले, जब यूनान भी अज्ञान तिमिर में सो रहा था, विश्व को सबसे पहले विश्व-बन्धुत्व और समस्त प्राणियों की एकता का सन्देश वेदों में दिया था, जिन्होंने ढाई हजार वर्ष पहले महावीर और बुद्ध की वाणी में अहिंसा और प्रेम का प्रकाश दिया था।

स्वयं लार्ड मैकाले ने इंग्लैण्ड के इतिहास में लिखा है कि ईसा के जन्म के पांच सौ वर्ष बाद भी "इंग्लैण्ड का नाम सभ्य लोगों में एक रहस्यमय भय को जगाता है। यह भय ऐसा ही था जैसा होमर के जमाने में स्काइला और लेस्ट्रीगोनियन के जंगली आदमखोरों का नाम जगाया करता था। यहां आधी रात के समय मृतकों की आत्माएँ इकट्ठा हुआ करती थीं। अंग्रेजों के रहस्यमय पूर्वज भयानक मन्त्र-तन्त्र से उनका पूजन किया करते थे।" कोई आश्चर्य नहीं कि भारतीयों की बौद्धिकता, कलात्मक और व्यावसायिक उपलब्धियों को और इतिहासकारों के साक्ष्य को इस धृष्टता के साथ वारेन हेस्टिंगज ने नकारा। अंग्रेज जाति की यह विशेषता रही है कि जहाँ तथ्यों को उसने सत्य का आधार माना

वहाँ उसने जी खोलकर उन तथ्यों को कुचला भी जो उनकी राजनीति के अनुकूल नहीं रहे।

1757 में प्लासी के युद्ध के बाद ईस्ट इण्डिया कम्पनी को एक नवबोध हुआ। अंग्रेज सरकार की फौजें पहली बार भारत में उतरीं। इससे पहले कम्पनी की अपनी फौजें थीं। लार्ड क्लाइव की जड़ बनिया मनोवृत्ति ने धन कमाने का एक नया तरीका ढूंढ़ लिया था जो इंग्लैण्ड को भी पसन्द आया था क्योंकि तरीका अंग्रेज प्रतिभा का खुला प्रदर्शन था। "दुकानदार लोग" (यह नाम अंग्रेजों को नेपोलियन ने दिया था) फौजी व्यापार के इस तरीके से बहुत प्रसन्न थे। इस तरीके के अन्तर्गत गवर्नर-जनरल अंग्रेजी फौज को किराये पर देने लगा था। कोई भी भारतीय राजा या नवाब अपने किसी देशी शत्रु के विरुद्ध अंग्रेजों की कुछ शर्तें मानकर इस फौज को किराये पर ले सकता था। अलबत्ता किराया बहुत ज्यादा था और रिश्वत रही अलग। अंग्रेज आनन्दित थे क्योंकि फौजी व्यापार से जो फायदा हो रहा था उसके मुकाबले में ईस्ट इण्डिया कम्पनी का व्यापार बचकाना था। अंग्रेज नैतिकता को किसी भी स्तर पर शौर्य और सैन्यपराक्रम का व्यापार अनुचित और अमानवीय नहीं लगा।

यह श्रेय अंग्रेजों को जाता है कि उन्होंने समूचे भारतीय प्रशासन को दुकानदारी बना दिया और व्यापारिक बदनीयती से भर दिया। प्रशासन एक कर्तव्य है, शूरवीरों का कर्म है, जिसे न्याय और सामाजिक व्यवस्था बनाये रखने के लिए क्षत्रधरे अपने कन्धों पर धारण करते हैं—प्रशासन का यह उच्च सिद्धान्त भुलवा दिया। इससे प्रेरित होकर भारतीय जमींदार और नवाब क्रूर हो गये। हर हालत में भूखे-नंगे किसानों से लगान वसूल करना, फसल खराब हो जाने पर भी न बख्शना, उनका धर्म हो गया था। इतना ही नहीं। लालचग्रस्त अंग्रेज लगान के अतिरिक्त और रुपयों की माँग भी बीच-बीच में करते रहते थे। अंग्रेज की बनिया मनोवृत्ति नवाबों और राजाओं को भी लग गयी थी और वे भूखे-नंगे किसानों की पीठ पर बचे चीथड़े भी खींचकर अंग्रेजों को देने में अब कोई झिझक नहीं महसूस करते थे। जैसे ही अंग्रेज मजबूत हुए, कार्नवालिस और वेलेजली के जमाने तक पहुँचते-पहुँचते सौहार्द और खुशमिजाजी समाप्त हो गयी। अंग्रेजों के होंठों से मुस्कुराहट चली गयी, उसकी जगह ले ली सर्द तनाव ने। आंखों का अपनापन चला गया, उसकी जगह ले ली अजनबीपन ने। कार्नवालिस ने एक ही फर्मान जारी करके समस्त भारतीयों को उच्च सरकारी ओहदों से बर्खास्त कर दिया। वेलेजली ने पृथकतावाद की इस नयी नीति को और आगे बढ़ाया। उसने हुक्म दिया कि भविष्य में किसी भी भारतीय को राजभवन में होने वाले उत्सव में आमन्त्रित न किया जाये। जितना अंग्रेज भारतीय समाज को अपने से अलग करते चले गये उतना ही उनका दृष्टिकोण झूठ, पाखण्ड और दम्भ से भरने लगा। विक्टो-

रिया के युग तक पहुँचते-पहुँचते अंग्रेज अपने आपको सर्वाधिक नैतिक उच्च चरित्र वाले व्यक्ति समझने लगे। व्यवहार और आत्म-मूल्यांकन के बीच सामंजस्य न होने के कारण उस युग के अंग्रेजों का व्यक्तित्व सत्य से बहुत दूर हो गया। यहाँ तक कि वे यह भी भूल गये कि वे भारत में धन कमाने आये थे और भारत को बेरहमी और अन्यायपूर्ण तरीकों से लूटकर उन्होंने अपने को मालामाल किया था। उल्टे वे यह मानने लगे थे कि वे भारत में रहना नहीं चाहते। वे भारत में इसलिए रह रहे हैं कि भारतीयों की निकृष्टता और अयोग्यता को देखते हुए ईश्वर ने उन्हें यह कर्तव्य सौंपा है कि वे भारतीयों को अच्छा शासन दें।

"अंग्रेज नैतिकता का उद्गम कोई आध्यात्मिकता का स्रोत नहीं, स्वर्ण था।" यह एक कड़वा सत्य है जिसे अंग्रेज इतिहासकारों ने विभिन्न तरीकों से मीठा बनाने का यत्न किया है। परन्तु यह एक ऐसा सत्य है जो इतिहास के पृष्ठों पर अक्षरों की तरह बिखरा हुआ है और इसे छिपाया नहीं जा सकता। जब अंग्रेजों ने भारत का खजाना जी भर कर लूट लिया, और लालच के आवेश में सोने का अण्डा देने वाली इस मुर्गी को ही मार डाला, और हालत यह हो गयी कि भारत का शासन चलाने के लिए उन्हें अफीम की तस्करी जैसा घृणित धन्धा अपनाना पड़ा, तो निर्धन उपनिवेशों के प्रति उसमें एक दूसरी किस्म की नैतिकता जगी। वे उपनिवेशों को अंग्रेज जाति पर एक कर्तव्य भार कहने लगे। प्रधानमन्त्री डिजरेली, अभिनय में दक्ष थे और स्वयं यहूदी होने के कारण अंग्रेजों को सुहाने वाली बातें कहने को अपनी नीति बनाये हुए थे। उपनिवेशों से कुछ मिलने की उम्मीद खत्म हो चली थी। अतः अब दुनिया के सामने इंग्लैण्ड को कर्तव्यनिष्ठ और मानवतावादी देश के रूप में प्रस्तुत करने का सुअवसर था। अब दुनिया को यह दिखाने का अवसर था कि इन उपनिवेशों से हमें कोई लाभ नहीं है किन्तु हम फिर भी इन्हें "चक्की के पाट की तरह अपनी गर्दन में डाले हुए हैं।" (डिजरेली के शब्दों में) इन्हें गले में डालकर हमें कुछ नहीं मिल रहा है मगर यह जहमत उठा रहे हैं ताकि काले लोगों के जान-माल सलामत रहें क्योंकि वे इतने अधम और सिद्धान्तविहीन हैं कि अगर हम हट गये तो वे एक दूसरे का गला काट डालेंगे।

यही कर्तव्य भार भारत स्थित, अंग्रेज अफसरों के पत्रों में लटका हुआ मिलता है। यह बात वे आराम से भूल जाते हैं कि एक अंग्रेज का पार्थिव भार उठाने के लिए दस भारतीय—खनसामा, बटलर, धोबी, साईस, कुर्सी ढोने वाला, पंखा झलने वाला, बग्घी के पीछे भागने वाला आदि—हरदम लगे रहते थे।

कर्तव्य के भार से दबे, निःस्वार्थ, काले लोगों के त्राता, भारत भाग्यविधाता अंग्रेज की यह भव्य मूर्ति 1880 के बाद बादलों से बनी देवमूर्ति की तरह अचानक मिट गयी। प्रधानमन्त्री डिजरेली का लहजा बदल गया। अब इस नैतिकतावादी ढोंग की जरूरत नहीं रही थी। क्यों? 1867 में दक्षिण अफ्रीका के किम्बले क्षेत्र

में हीरों की खान हाथ आ गयी थी। आस्ट्रेलिया के न्यू साउथ वेल्स और विक्टोरिया प्रान्तों में सोना निकलने लगा था। अंग्रेजों में भगदड़ मच गयी थी। नैतिक नकाबें इस भगदड़ में फट गयीं। आस्ट्रेलिया में वे अपराधी अंग्रेज भेजे जाते थे जिन्हें काले पानी की सजा हो जाती थी। अब वहाँ सोने की तलाश में आये स्वतन्त्र अंग्रेजों की संख्या अपराधी अंग्रेजों की संख्या से कहीं अधिक बढ़ गयी थी। इस बदले परिवेश में अंग्रेज स्वभाव का दूसरा रूप उभरा। डिजरेली इंग्लैण्ड को एक यूरोपीय शक्ति कहने में अपमान महसूस करने लगे। *1872* में स्फटिक महल (क्रिस्टल पैलेस) में उन्होंने ब्रिटेन को एक "विश्व साम्राज्य" घोषित किया। साम्राज्यवाद की कोपलें अंग्रेज नैतिकता की दोगली भूमि पर फिर फूटने लगीं।

सोने और हीरे की इस नयी उम्मीद में बँधे अंग्रेज हृदय इस आह्वान पर हर्षित हुए और शीघ्र ही पूरा इंग्लैण्ड साम्राज्य को अपना राजनैतिक-धर्म मान एक मन, एक मस्तिष्क होकर साम्राज्यवादी मार्ग पर चल दिया। तब से सन् 1947 तक यह कारवाँ चलता रहा और साम्राज्यवाद के विरुद्ध उठी हर विवेक और नैतिकतापूर्ण आवाज को पागलपन कहकर कुचलता रहा। किन्तु हवाएँ बदल चुकी थीं। दूसरे विश्वयुद्ध तक पहुँचते-पहुँचते गांधी के आध्यात्मिक भूकम्प ने ब्रिटिश सामाज्य को किसी नये जमाने में देखा सपना बनाकर रख दिया।

अंग्रेजी शिक्षा

प्रारम्भ में अंग्रेज सरकार भारत में अंग्रेजी शिक्षा के विरुद्ध थी। राजा राम-मोहन राय आदि भारतीयों ने माँग की थी कि भारतीयों को अंग्रेजी शिक्षा दी जाये। उनका विचार था कि अंग्रेजी उन्हें अन्ध-विश्वासों और गुलामी से मुक्त कर देगी। मैकाले पहला अंग्रेज था जिसे उसकी माँग अच्छी लगी। किन्तु उनका उद्देश्य कुछ और था। मैकाले का विश्वास था कि "यदि भारतीयों को अंग्रेजी शिक्षा दी गयी तो वे अपने आप अपना धर्म छोड़ देंगे, उन्हें ईसाई नहीं बनाना पड़ेगा। ज्ञान और तर्क उनसे आप ही मूर्ति पूजा छुड़वा देंगे।" भारत में अंग्रेजी शिक्षा के दूसरे हिमायती ट्रेवेलियन का तर्क दूसरा था। 1853 में हाउस आफ कामन्स के समक्ष उसने कहा था—"हमारा साहित्य पढ़ने के बाद भारतीय हमें विदेशी समझना छोड़ देंगे।"

अंग्रेजी शिक्षा की पहली भारतीय संस्था हिन्दू कालेज की स्थापना कलकत्ता में 20 जनवरी 1817 को बिना शासकीय सहायता के हुई थी। यह घटना स्पष्ट करती है कि अंग्रेजी शिक्षा की शुरुआत बाबू बनाने के लिए नहीं वरन् नव-जागरण के उद्देश्य से हुई थी। हिन्दू कालेज के विद्यार्थी रूसो, वाल्तेयर, हाब्स और लॉक के उदार राजनैतिक विचारों में गहन रुचि ले रहे थे।

भारत में अंग्रेजी शिक्षा की जोरदार वकालत बेन्थम, जेम्स मिल और ट्रेवेलियन आदि विद्वानों ने की। उनका विचार था कि हिन्दू अँधेरे में हैं और अंग्रेजी ही उनका उद्धार कर सकती है। मैकाले का विचार था कि भारतीयों की समस्त ज्ञान सम्पदा मिलकर भी लॉक के दर्शन और न्यूटन के भौतिक शास्त्र के बराबर नहीं है। यह एक जोश था जो भारत के अतीत के प्रति अज्ञान से प्रेरित था। उन्हें पता नहीं था, जैसा प्रोफेसर चन्द्रशेखर ने बाद में दर्शाया, कि न्यूटन के अधिकतर सिद्धान्त न्यूटन से दो शताब्दी पहले जन्मे भारतीय गणितज्ञ माधव ने अविष्कृत कर लिए थे। और लॉक का दर्शन तो क्या अंग्रेजी की पूरी दर्शन परम्परा भी मिलकर, नीत्शे के अनुसार, भारतीय दर्शन के हजारवें हिस्से के बराबर नहीं है।

सर थामस मनरों ने मुस्लिम मदरसों का व्यापक सर्वेक्षण कर यह रिपोर्ट दी कि "ये मदरसे वह शिक्षा देते है जिसमें नैतिक सत्य नहीं है। यहाँ ज्ञान के मायने रटाई समझी जाती है।"

लार्ड विलियम बैंटिक का 7 मार्च 1835 का प्रस्ताव भारत में अंग्रेजी शिक्षा की आधारशिला बना। एक दूसरे गवर्नर-जनरल लार्ड हार्डिंग ने इसमें एक महत्वपूर्ण खण्ड 10 अक्टूबर 1844 को जोड़ा। उसने ऐलान किया कि सरकारी नौकरियों में अब से अंग्रेजी पढ़े-लिखे लोगों को प्राथमिकता दी जाया करेगी। अंग्रेजी शिक्षा के प्रसार के लिए सबसे महत्वपूर्ण कदम था 19 जुलाई 1854 को सर चार्ल्स वुड द्वारा प्रस्तुत शिक्षा योजना। इसके अनुसार हर जिले में 1867 तक इन्सपेक्टर आफ स्कूल और हर प्रान्त में शिक्षा विभाग खोले गये। वुड की यह शिक्षा योजना मूल रूप से आज तक चल रही है। विश्वविद्यालयों की अपेक्षा अंग्रेजों का ध्यान तकनीकी शिक्षा पर पहले गया। 1847 में उन्होने दो इंजीनियरिंग कालेज एक रुड़की और दूसरा कलकत्ता में स्थापित किया। इसके बाद 1857 को महत्त्वपूर्ण वर्ष आया जो दूसरे कारणों के साथ शिक्षा की दृष्टि से भी भारत में अविस्मरणीय रहेगा। 1857 में ही भारत के प्रथम तीन विश्वविद्यालयों की स्थापना हुई। ये थे कलकत्ता, बम्बई और मद्रास विश्वविद्यालय। इसके बाद पंजाब विश्वविद्यालय 1882 में और इलाहाबाद विश्वविद्यालय 1885 में स्थापित किये गये।

1882 में हण्टर कमीशन ने वह महत्वपूर्ण सुझाव दिया जिसके बिना शिक्षा संस्थाएँ ज्ञान के स्वतन्त्र विकास में सहायक नही हो सकतीं। हण्टर ने कहा था की शिक्षा संस्थाओं पर सीधा शासकीय नियन्त्रण न रखा जाये। इस सुझाव को सरकार ने मान लिया और इसको व्यवहृत करने की दिशा में कदम उठाये जाने लगे।

1901-2 तक शिक्षा में आशातीत प्रगति हुई। देश में 105,000 स्कूल खुल चुके थे जिनमें 40 लाख बच्चे शिक्षा पा रहे थे, 17,500 विद्यार्थी बी० ए० में पढ़ रहे थे, 145 आर्ट कालेज थे, कानून और डाक्टरी पढ़ाने के लिए 46 कालेज थे। फिर भी शिक्षा बहुत कम थी। मुश्किल से दस प्रतिशत मर्द और हजार में सात औरतें ऐसी थीं जो पढ़-लिख सकते थे।

इसके बाद शिक्षा सुधारकों में प्रमुख नाम आता है लार्ड कर्जन का जो पहला व्यक्ति था जिसने इस नयी शिक्षा में घर कर गयी बुराइयों को देखा। कर्जन ने अपनी रिपोर्ट में लिखा कि शिक्षा का उद्देश्य सिर्फ नौकरी रह गया है। छात्रों के बौद्धिक और नैतिक स्तर को ऊँचा करने की बजाय शिक्षकों का सारा ध्यान परीक्षाफलों और प्रतिशत पर है। यूनिवर्सिटी सिनेट के मेम्बर वे हो गये हैं, जिनमें बहुत से अपने हस्ताक्षर भी नही कर सकते, जिन्हें ज्ञान के प्रसार में कोई

रुचि नहीं है। शब्द पढ़ाये जा रहे हैं विचार नहीं। बहुत सी शिक्षा संस्थाओं का उद्देश्य ज्ञानवर्धन नहीं धनोपार्जन हो गया है।

इन कमियों को दूर करने के लिए कर्जन ने 1904 में यूनिवर्सिटीज एक्ट लागू किया। इसका विरोध फिरोजशाह मेहता के नेतृत्व में कांग्रेस ने किया क्योंकि यह एक्ट सरकार को विश्वविद्यालयों में हस्तक्षेप करने के बहुत अधिकार दे रहा था। गोपाल कृष्ण गोखले ने भी काउंसिल में इसका जबर्दस्त विरोध किया। परन्तु कर्जन अडिग रहा। यह अधिक हितकर होता यदि सरकारी हस्तक्षेप बढ़ाने के बजाय कर्जन ने प्रत्येक प्रान्त में शिक्षाविदों की एक उच्च समिति बना दी होती जो शिक्षा संस्थाओ मे आयी इन बुराइयों को दूर करती। यह व्यावहारिक भी होता क्योंकि उन दिनों शिक्षा संस्थाएँ बहुत अधिक नहीं थीं। राजा राममोहन राय, ब्रह्मसमाज, स्वामी दयानन्द सरस्वती, आर्य समाज और ईश्वरचन्द विद्या-सागर के अथक प्रयत्नों के फलस्वरूप भारत में लड़कियों को पढ़ाने की प्रथा का फिर से चलन हुआ। प्राचीन काल में भारत में लड़कियों को लड़कों की तरह पढ़ाने का रिवाज था। राजा राममोहन राय के शब्दों में नौ शताब्दियों की गुलामी ने और बहुत सी अच्छाइयो के साथ स्त्री शिक्षा की परम्परा को भी नष्ट कर दिया। स्त्री-शिक्षा के क्षेत्र मे सर्वाधिक योगदान करने वाले अंग्रेज थे ड्रिंकवाटर बेथुन और सर चार्ल्स वुड। किन्तु स्त्री-शिक्षा की प्रगति अत्यन्त धीमी और अनेक सन्देहों और विरोधों के बीच हुई। 1901-2 में भारत भर में लड़कियों के केवल बारह कालेज थे और उनमे पढ़ने वाली लड़कियों की संख्या कुल 177 थी।

अंग्रेजों की शिक्षा नीति पर सर्वाधिक असर रहा लार्ड मैकाले का। बिना संस्कृत व अरबी पढ़े, मैकाले को पूरा यकीन था कि इन भाषाओं में जो काव्य रचना हुई है वह यूरोपीयन काव्य की तुलना में बहुत हीन है। उस समय तक यूरोप का सर्वाधिक मान्य कवि गेटे कालिदास को धरती और स्वर्ग की एक मिश्रित अनुपम देन कह चुका था, उस समय तक यूरोप का प्रसिद्ध दार्शनिक शूपेन-हावर उपनिषदों को संसार की सर्वश्रेष्ठ दार्शनिक रचना मान चुका था। मगर संस्कृत साहित्य का यह ज्ञान जर्मनी तक सीमित था, मैकाले तक नहीं पहुँच पाया था। वे वेद जिनको प्रसिद्ध दार्शनिक नीत्शे ने अपनी रचनाओं के साथ विश्व की सर्वश्रेष्ठ, प्रेरित और उर्ध्वरेता रचना कहा था, उन्हें मैकाले अन्धविश्वासों का संग्रह समझता था। भारतीय साहित्य के प्रति उसका ज्ञान हास्यास्पद था और बिना उसे पढ़े पश्चिम साहित्य से उसकी तुलना करना साहित्यिक उद्दण्डता थी। जिन शब्दों मे उसने वेद अध्ययन का विरोध किया वे ये थे : "यह सरकारी धन का दुरुपयोग होगा कि युवकों को यह पढ़ाया जाये कि एक गधे को छू [illegible] से कैसे फिर से पवित्र हो सकते हैं या एक बकरे [illegible] के पाप [illegible] मन्त्र दोहरा कर उन्हें मुक्ति मिल सकती है।" [illegible] ों को प[illegible]

का कोई भी अंग्रेज विद्यार्थी मैकाले की अज्ञान और दम्भ पर उसी तरह हँसेगा जैसे मैकाले 2 फरवरी 1935 को वायसराय की शिक्षा समिति के आगे अपना भाषण देते हुए हँस रहा था। मैकाले को पूर्ण विश्वास था कि "हिन्दू भी तातारियों की तरह एक वहशी जाति है और जिस तरह पश्चिमी यूरोप की भाषाओं ने तातारियों को सभ्य बनाया उसी तरह अंग्रेजी हिन्दुओं को सभ्य बना सकती है।"

अंग्रेजों की शिक्षा नीति में बहुत से विद्वेष और भारतीय साहित्य के प्रति लज्जाजनक अज्ञान और दम्भ अन्तर्निहित था। उनका उद्देश्य भारतीय ज्ञान-परम्परा का विकास करना नहीं था। उसे वे एक अज्ञान-परम्परा समझते थे और उसकी जगह पश्चिमी ज्ञान परम्परा को भारत में लाना चाहते थे। उन्हें आशा थी कि अपनी परम्परा को भूल कर, पश्चिमी विचारों पर पले भारतीय अंग्रेजी शासन को भारत में मजबूत करने में उनकी मदद करेंगे। यह बात दूसरी है कि उनके इरादे कामयाब नहीं हुए। पश्चिमी ज्ञान-परम्परा को समझकर भारतीयों में स्वाभाविक इच्छा जगी, अपनी ज्ञान-परम्परा को समझने की। इस प्रकार अंग्रेजी शिक्षा ने उनका परिचय अपने देश की संस्कृति और ज्ञान से कराया और स्वतन्त्र होने की इच्छा को प्रज्वलित किया।

शिक्षा के पीछे अंग्रेजों के इरादे कुछ भी रहे हों, अंग्रेजी शिक्षा से भारतीयों को बहुत मदद मिली। आँख मींचकर कुरीतियों को सहन करने की और अन्ध-विश्वासों में जीने की विवशता चली गयी। वे समझने लगे कि उनकी परम्परा में बहुत-सी अच्छाइयों में बहुत-सी बुराइयाँ भी आ मिली हैं। वे अपने समाज में व्याप्त उन बुराइयों का खुलकर विरोध करने लगे। सती प्रथा, स्त्रियों को शिक्षा न देना उन्हें नारी के प्रति अन्याय नजर आने लगे। ज्ञान को किसी वर्ण विशेष की सम्पत्ति मानना और अपने समाज के एक बड़े अंश को अछूत कहकर कुचलना उन्हें एक कुटिल कुचक्र के प्रतीक लगने लगे। यह एक ऐसी उपलब्धि अंग्रेजी शिक्षा से हुई जो अमूल्य है।

शिक्षा का, कॉलेजों, स्कूलों और विश्वविद्यालयों के संचालन का एक ढाँचा अंग्रेजों ने भारत को विरासत में दिया और वही ढाँचा स्वतन्त्रता के बाद भी चलता रहा।

दिसम्बर 1984 में राजीव गांधी के प्रधानमन्त्री बनने के बाद इस नीति को पहली बार प्रश्नभरी आँखों से देखा गया कि यह नीति भारत को इक्कीसवीं शताब्दी में सफलतापूर्वक प्रवेश नहीं दिला सकती, क्योंकि यह भारतीय युवकों की बेरोजगारी को दूर नहीं कर पा रही है। आने वाले वर्षों में आशा की जा सकती है कि इस शिक्षा नीति में महत्वपूर्ण परिवर्तन होंगे और एक ऐसी नीति सामने आयेगी जो अधिकांश युवकों की रोजगार की आवश्यकता की पूर्ति कर सके, और जो थोड़े से युवक गम्भीर चिन्तन और आविष्कारों में रुचि रखते हों उन्हें अभूत-पूर्व अवसर और साधन प्राप्त हो सकें। □

अंग्रेज मानसिकता

एक देश के लोग जिन गुणों की उपेक्षा करते है वे गुण उन पर विजय प्राप्त करने वाले शत्रुओं में प्रचुर मात्रा में होते है। अंग्रेजों में वे सभी गुण थे जिनकी उपेक्षा भारतीय शताब्दियों से करते रहे हैं।

जब यूरोप में बौद्धिक क्रान्ति हो रही थी, फ्रांस में सामाजिक क्रान्ति हो रही थी, अमेरिका राजनैतिक स्वतन्त्रता प्राप्त कर रहा था और प्रजातन्त्र के महान सिद्धान्तों की स्थापना अमेरिकी संविधान में की जा रही थी तो इंग्लैण्ड औद्योगिक क्रान्ति में व्यस्त था। पूरा पश्चिमी जगत वाल्तेयर के क्रान्तिकारी विचारों के नशे में था। उसने धर्म और अन्धविश्वास से लड़कर साधारण लोगों को स्वयं अपने लिए सोचने के हौसले दिये थे। विचारो की स्वतन्त्रता का इतना बड़ा पक्षधर पश्चिम ने पहले नहीं देखा था। अपने प्रतिद्वन्द्वियों से उसने कहा था—"मैं तुम्हारे विचारों से सहमत नहीं हूँ लेकिन तुम्हारी वैचारिक स्वतन्त्रता के लिए मैं अपने प्राण भी दे दूँगा।" उधर रूसो था, स्वतन्त्रता का ऐसा ही विलक्षण प्रेमी, प्रकृति का पुजारी, मनुष्य की आदिम प्राकृतिक अवस्था को देवतुल्य मानने वाला, सभी संस्थाओं को पतन की प्रतीक और गुलामी की जंजीर मानने वाला। उसका प्रसिद्ध वाक्य नवयुग का प्रेरणा स्रोत बन गया था—"मनुष्य जन्मा स्वतन्त्र है किन्तु हर जगह उसे जंजीरों से जकड़ दिया जाता है।"

ऐसे अद्भुत दौर मे हम इंग्लैण्ड में कोई विशेष उत्तेजना नही पाते। इन क्रान्तिकारी विचारों का वहाँ के सामाजिक और राजनैतिक जीवन पर कोई बाह्य असर दृष्टिगोचर नही होता। अंग्रेज चुपचाप व्यापार में लगे हैं या फैक्टरियों में लगे हैं। ऐसा नही है कि रूसो, वाल्तेयर, और दीदों का उन पर कोई असर नही। असर पड़ रहा था मगर गहराई में। सतह पर कोई हलचल नहीं थी। अंग्रेज जाति की एक अनुकरणीय खूबी रही है, नये विचारो को पचाने की क्षमता। वे नये विचारों और नारों से जोश में नही आते। वे न तो अपनी परम्पराओं को आसानी से छोड़ते हैं न नये विचारों से उत्तेजित होकर अपने सामाजिक ढाँचे में एकाएक कोई परिवर्तन करते हैं। वे नये विचारों को अपनी मानस गंगा मे उतर जाने देते

हैं, उनको गहराई में ले जाकर परखते हैं। उसके बाद परिवर्तन उनके समाज में धीरे-धीरे आता है।

ऐसे समय में जब पूरा यूरोप वैचारिक क्रान्ति से गुजर रहा था तो इंग्लैण्ड में एडम स्मिथ अंग्रेजों को धन कमाने की विधि बतला रहा था। इंग्लैण्ड उसके विचारों को अधिक महत्वपूर्ण समझ रहा था कि उद्यम से दौलत कैसे पैदा होती है। खेतों की दौलत तो मौसम के आधीन है। थामस पेन नामक एक अंग्रेज ने अमेरिकी क्रान्ति से प्रभावित होकर स्वतन्त्रता सम्बन्धी कुछ नये विचार अंग्रेजों को देने चाहे। "मनुष्य के अधिकार" नामक पुस्तक लिखने का फल यह हुआ कि उसे इंग्लैण्ड छोड़कर भागना पड़ा। इंग्लैण्ड ऐसे विचारों के लिए तैयार नहीं था।

एक बात जो मार्के की है, जिससे नये विचारों को हजम करने के अंग्रेजी तरीके का अन्दाजा लगाया जा सकता है, वह यह है कि उन्नीसवीं शताब्दी में जब अंग्रेज पूरी तरह औद्योगिक क्रान्ति में डूबे हुए थे तो उनके साहित्यकार एक बिल्कुल ही दूसरे किस्म की साहित्य रचना कर रहे थे, जिसमें उद्योगों के प्रति पूर्ण उपेक्षा थी। वे रचना कर रहे थे प्रकृति की, उसके सुन्दर और पवित्र मुखड़े की। वर्ड्सवर्थ, शेली, बायरन और कोलरिज उस युग के ये महान अंग्रेज कवि उद्योगों में व्यस्त अंग्रेजों को प्रकृति के गीतों से आह्लादित कर रहे थे। यह बात ज़रा विचित्र है कि जो लोग मनोयोग से प्रकृति का शोषण कर रहे थे और इंग्लैण्ड की प्राकृतिक छटा को फैक्टरियों और उनकी गन्दगी से नष्ट कर रहे थे, वे ही उस दौर में प्रकृति सम्बन्धी गीतों को सर्वाधिक महत्व दे रहे थे। इस विरोधाभास को समझना आसान होगा अगर हम शुरू में ही यह जान लें कि प्रकृति सम्बन्धी ये गीत केवल प्रकृति-प्रेम के गीत नहीं थे। ये एक रोमेण्टिक अनुकृति थी स्वतन्त्रता, समानता के उन विचारों की जो रूसो और वाल्तेयर ने दिये थे। ये प्रतीक थे इस बात के कि अंग्रेजों ने उन विचारों को वैचारिक तल पर न लेकर भावनात्मक तल पर लेना पसन्द किया था। ललित, कोमल भावनाएँ बनकर, जीवन की शाश्वत सुमधुर पीड़ा का संगीत बनकर, उन विचारों से कटुता और क्रान्ति की ज्वाला निकल गयी थी। पूरी उन्नीसवीं शताब्दी इंग्लैण्ड के साहित्यकार यह यज्ञ करते रहे। टेनिसन, मैथ्यु, आर्नल्ड के युग तक प्रकृति प्रेम के गीत लोकप्रियता की चोटी पर रहे। टर्नर, जोसुआ रेनाल्डस, बर्नी जोन्स आदि इस युग के प्रसिद्ध अंग्रेज चित्रकारों ने भी प्रकृति को अपना मुख्य विषय बनाया।

एक जाति की मानसिकता अनेक आकांक्षाओं, भयों, वासनाओं की पारस्परिक अन्तःक्रियाओं से निर्मित होती है। अतः इसके पीछे विचारों के बीजों की गहराई में ले जाकर भावना प्रसूनों में खिलाने की चेष्टा मात्र नहीं थी। इसके पीछे अंग्रेजों की तीव्र लालसा भी थी, धनी हो जाने की। जो सौभाग्य यूरोपीय देशों को प्राप्त नहीं था वह उन्हें प्राप्त था। पूर्व की चाबी उनके हाथ लग गयी थी। स्वेज नहर

उनकी थी और सोने की चिड़िया भारत उनका था। गरीबी से तंग आकर जो अंग्रेज विद्रोह करते वे भारत चले आते थे, जहां परिकथाओं जैसी वैभवशाली जिन्दगी उनका इन्तज़ार करती मिलती थी। फिर आस्ट्रेलिया और अफ्रीका थे जहां हीरे और सोने की खानें उनकी थीं। उनकी हालत यूरोप के अन्य देशों, फ्रांस, रूस और जर्मनी, जैसी नहीं थी कि वे क्रान्ति की बात सोचते। क्रान्ति के शोले ठण्डे किये रहने में ही उनका सामूहिक हित था।

एक और कारण था जो इंग्लैण्ड में क्रान्ति के शोले नहीं भड़के। वह था इंग्लैण्ड का स्वयं अपने अंग आयरलैण्ड के साथ गत सात सौ वर्षों से चला आ रहा अन्तर्द्वंद्व और जातीय मन-मुटाव। आयरलैण्ड और इंग्लैण्ड में दो अलग-अलग जाति, संस्कृति और धर्म वाले लोग रहते है जिनमें पुश्तैनी दुश्मनी है। अंग्रेज एंग्लोसेक्शन जाति के लोग है जबकि आयरिश लोक केल्ट हैं। उनकी सभ्यता और सस्कृति भी अलग है जिसे "गैलिक" कहकर अंग्रेज चिढ़ाते रहे। उनके धर्म, कैथोलिक, के प्रति अंग्रेजों की तीव्र असहिष्णुता का अनुमान इस बात से लगाया जा सकता है कि 1829 तक ब्रिटिश संसद के लिए कोई कैथोलिक चुनाव नहीं लड़ सकता था। कैथोलिकों को दबाये रखने के लिए बड़ी संख्या में अंग्रेज जाकर आयरलैण्ड के उलस्टर प्रान्त में बस गये हैं। कैथोलिकों को अंग्रेजों ने आयरलैण्ड में इतना परेशान किया कि उन्नीसवीं शताब्दी में अधिकांश आयरिश लोग भागकर अमेरिका जा बसे। वे अधिकतर कृषक पेशा करते थे। अतः उनके चले जाने से खेत बंजर हो गये। यह पलायन भी अंग्रेजों की औद्योगिक नीति में सहायक रहा। अपनी भेड़ों के लिए उन्हें चरागाहों की सख्त जरूरत थी। ये सभी बंजर खेत भेड़ों के लिए चरागाह बन गये।

इस सबके बावजूद आयरिश आत्मसम्मान से भरी एक जाति है जो झुकना नहीं जानती। आज से 1400 वर्ष पहले जब इंग्लैण्ड के लोग वस्त्रों और फैशन के नाम पर शरीर के पिछवाड़े रंगते थे, जब वे नरभक्षियों जैसी जादुई रस्में अदा करते थे, उस समय ही आयरलैण्ड समूचे पश्चिमी यूरोप के लिए ज्ञान और संस्कृति का दीप बना हुआ था। आयरिश और इंग्लिश ये दो जातियां कभी भी एक नहीं हो सकी हैं। 1980 के बाद भी आयरलैण्ड में दंगे भड़के और बहादुर आयरिश स्वतन्त्रता प्रेमियों ने भूख हड़ताल करके इंगलिश जेलों में प्राणों की आहुति दी।

"गुलीवर की यात्राएं" का लेखक एक आयरिश था, जोनाथन स्वीफ्ट। उसने अपनी कब्र पर खुदवाने के लिए दो सन्तप्त पंक्तियां सन्तति के लिए छोड़ी थी:

"ओ जाने वाले राही। हो सके तो तुम भी अनुशरण करना यहां सोने वाले का जिसने स्वतन्त्रता की रक्षा में अपने समूचे पौरुष को दाव पर लगाया था।"

आयरलैण्ड में क्रान्ति की ज्वाला धधकती रही थी और उसका [illegible] ग्रेजों का व्यसन हो गया था। अतः क्रान्ति के [illegible]

ंग बन चुकी थी। मान्यता प्रचलित है : "अंग्रेज राजनैतिक पशु नहीं है।" उन राजनैतिक विचारों और क्रान्तियों में रुचि नहीं होती। अंग्रेजों को "एक औद्योगिक पशु", "एक व्यापारी पशु" कहा जा सकता है किन्तु "एक राजनैतिक पशु" नहीं किन्तु इस उक्ति के जोश में हमें बहुत दूर नहीं निकल जाना चाहिए। वे राजनैतिक पशु इसलिए नहीं है कि वे अपने देश में राजनैतिक उथल-पुथल और क्रान्तियाँ पसन्द नहीं करते। कदाचित इसके पीछे उनका शताब्दियों पुराना भय है कि क्रान्तियाँ उन्हें उसी जंगली अवस्था में न पहुँचा दें जिसमें वे नौ सौ वर्ष पहले जी रहे थे।

अंग्रेजों ने क्रान्तिकारी विचारों को सीधे न लेकर वाम मार्ग से लिया है। जहाँ तक एशियाई-अफ्रीकी देशों का सम्बन्ध है अंग्रेजों की सभी बातें राजनैतिक कूटनीति से प्रेरित होती है। यहाँ तक कि इन देशों के साहित्य का मूल्यांकन भी वे सच्ची साहित्यिक कसौटी पर नहीं करते, राजनैतिक उद्देश्यों की पूर्ति के आधार पर करते है। उदाहरण के तौर पर भारत अपने जिस आधुनिक साहित्यकारों को महान मानता है उन्हें अंग्रेज महत्व नहीं देते। उनकी नजरों में भारत के दो सर्वश्रेष्ठ आधुनिक साहित्यकार है—नीराद चौधरी और सलमान रशदी। अंग्रेजों के इस मूल्यांकन के पीछे राजनैतिक उद्देश्य और विद्वेष है, उस तरह का विद्वेष जिससे एक अमीर अपने गुलाम की बढ़ोत्तरी को देखता है। इन दोनों साहित्यकारों ने भारत को एक अर्धविक्षिप्त, अनैतिक और मानसिक गुलामी से ग्रस्त देश के रूप में चित्रित किया है। उन्होंने अंग्रेजों के इस अंहकार की पूर्ति की है कि भारत पर शासन करके उन्होंने भारतीयों पर उपकार किया है। उन्होंने अंग्रेजों की इस मान्यता को सिद्ध किया है कि भारतीय स्वतन्त्रता के लिए सर्वथा अनुपयुक्त है। यह बात ध्यान देने की है कि रवीन्द्रनाथ टैगोर को भी मान्यता अंग्रेजों के कारण नहीं आयरिश कवि डब्लू० बी० यीट्स और स्वीडन नरेश के अंग्रेजों के प्रति विद्वेष के कारण मिली। अंग्रेजों ने प्रेमचन्द, शरतचन्द्र, प्रसाद, सुब्रमण्यम भारती, निराला के अनुवाद पीढ़ियों तक पढ़ने के बाद भी उन्हें मान्यता नहीं दी।

अक्सर इंग्लैण्ड के समाचार पत्रों और बी० बी० सी० के भारत विरोधी प्रचार पर भारत में क्षोभ और हैरानी होती है। इसका कारण यह है कि भारतीय उनमें तर्क और सत्य ढूँढ़ते है और यह देखकर निराशा से खीझ उठते हैं कि इतने तथ्यों के सामने होते हुए भी उनकी अवहेलना अंग्रेजों ने कैसे कर दी। वे फिर से उनका ध्यान उन तथ्यों की ओर आकर्षित करते हैं। किन्तु नतीजा वही रहता है। उनकी खीज और निराशा बढ़ती जाती है। हम एक बात भूल जाते है भारतीय विषयों पर अंग्रेज मूल्यांकन के पीछे सत्यग्राहिता नहीं, जान-बूझकर रचे गये विद्वेष

है, शरारत है, जिन्हें दूर करने को अंग्रेज तैयार नहीं हैं क्योंकि इससे उनका मनोविनोद कम होगा और उनके दर्प को क्षति पहुँचेगी।

उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्ध से प्रथम विश्वयुद्ध तक का इंग्लैण्ड का सामाजिक जीवन सुख, समृद्धि, सन्तोष और सुरुचि का जीवन था। ऐसा लगता था जैसे सभ्यता की दोपहर है, मानव जीवन के शीत पर आयी सर्दियों की धूप-भरी एक सुखद दोपहर। समृद्ध लोग रंगीन छाते लगाये लान में बैठे हैं, फूल खिले हैं, बच्चे स्वच्छ वस्त्रों में उत्फुल्ल चेहरे लिये खेल रहे हैं और नफीस उन्नत जाति के कुत्ते घास पर सुस्ता रहे हैं। महिलाएँ एक कोमल रूमानी उदासी को अपनाये टैनीसन और रोजेती की कविताएँ पढ़ती थीं। टर्नर के समुद्री सौन्दर्य से भरे चित्रों को देखती थीं। आक्सफोर्ड और कैम्ब्रिज में कीट्स, शेली, बायरन, थैकरे, डिकेन्स और स्काट पर चर्चे होते थे। स्टीवेन्सन, प्रीस्टले फैराडे मारकोनी की वैज्ञानिक खोजों ने रेलवे, बिजली, रेडियो देकर दुःसह जीवन के कड़े कोसों को फुर्सत में बदल दिया था।

विश्व की महानतम सैन्य शक्ति बन जाने के कारण इंग्लैण्ड को हमले का डर नहीं था। रूस जरूर अफगानिस्तान में छेड़-छाड़ कर रहा था। रूस के राजा पीटर महान ने बहुत पहले से रूसियों को भारत के प्रति लालायित कर रखा था। अंग्रेजों की तरह उसका भी विचार था कि भविष्य उस शक्ति के हाथ में होगा जिसके जाल में सोने की चिड़िया भारत होगा। अतः तुर्की के पतन के बाद निःशक्त होकर रूसी अफगानिस्तान के रास्ते भारत में घुसने की चेष्टा करने लगे थे। किन्तु उनसे कोई खास खतरा नहीं था। 1905 में जापान ने रूस को हराकर उनका हौसला तोड़ दिया था। 1905 में रूस स्वयं एक असफल क्रान्ति की लपटों में झुलस गया। फिर प्रथम विश्वयुद्ध आया और उनके पीछे-पीछे आयी रूस की सफल लाल क्रान्ति।

प्रथम विश्वयुद्ध के बाद अंग्रेजों की मानसिकता में भारी परिवर्तन आया। यह परिवर्तन विश्वयुद्ध के कारण नहीं था। इस परिवर्तन के कारण थे तीन प्रमुख यहूदी—मार्क्स, फ्रायड और आइंस्टीन। अठारहवीं शताब्दी की बौद्धिक क्रान्ति अंग्रेजों की बुद्धि में क्रान्ति नहीं ला पायी थी किन्तु बीसवीं शताब्दी की बौद्धिक क्रान्ति को अपने समस्त परम्परा, प्रेम और नये विचारों के प्रति सन्देह के बावजूद अंग्रेज न रोक सके। इसके दो कारण थे :

1. विज्ञान ने दुनिया को बहुत छोटा बना दिया था। रेलवे, समाचारपत्र, रेडियो और वायुयानों ने नये विचारों के प्रसार को बहुत आसानी और निरन्तरता प्रदान कर दी थी। चारों ओर से नये विचार आकर सीधे साधारण जनता को प्रेरित करने लगे थे। इनके असर को रोका नहीं जा सकता था। अंग्रेजों में भी निर्धन लोगों का, मजदूरों का, एक बड़ा वर्ग बन गया जिसे ट्रेड यूनियन बनाकर अपनी

बात कहने की भी इजाजत नहीं थी। रूस की क्रान्ति ने उस सर्वहारा वर्ग को मार्क्स के रूप में एक नया मसीहा दिया। शीघ्र ही इंग्लैण्ड में लिबरल पार्टी लेबर पार्टी के नाम से जानी जाने लगी। लास्की, बार्कर, जोड आदि राजनीति में पण्डित ही नहीं प्रसिद्ध साहित्यकार और दार्शनिक जैसे बर्नार्ड शा और बर्ट्रेण्ड रसेल भी खुलकर समाजवाद का समर्थन करने लगे। मार्क्सवाद की घुट्टी थोड़ी-सी पतली करके फेबियान सोसलिज्म के नाम से पिलाये जाने पर परम्परावादी ब्रिटिश शिशु को खूब सुहाई। पिछली पीढ़ी का खुलेआम मज़ाक उड़ाया जाने लगा। विक्टोरियन संस्कृति, नैतिकता, साहित्य और धूपभरी मीठी दोपहरों को एक झूठी, वास्तविकता से दूर, पाखण्डी जिन्दगी कहकर उसकी भर्त्सना की जाने लगी। विश्वयुद्ध के बाद अचानक यह क्रान्तिकारी परिवर्तन अंग्रेज मानसिकता में आ गया। नि.सन्देह यह परिवर्तन विश्वव्यापी था। पूरा यूरोप और अमेरिका अपनी विकसित बुद्धि, सम्पन्नता और प्रगति के कारण मार्क्स, फ्रायड और आइंस्टीन की त्रिमूर्ति से सर्वाधिक प्रभावित था।

2. इंग्लैण्ड की मानसिकता में आये इस क्रान्तिकारी परिवर्तन का दूसरा कारण स्वयं वह वैज्ञानिक ट्रेनिंग थी जो औद्योगिक क्रान्ति के साथ पिछली दो शताब्दियों में अंग्रेजों की पीढ़ियों ने ली थी। शेष यूरोप के आगे वे वैज्ञानिक दृष्टिकोण अपना रहे थे। रूसो और वाल्तेयर के विचारों को अवैज्ञानिक उदारता से जन्य कहकर वे नकार गये थे। किन्तु अब उनके सामने फ्रायड था जिसने मनोविज्ञान में उसी वैज्ञानिक पद्धति का सहारा लिया था जिसका सहारा लेकर उन्नीसवीं शताब्दी में अंग्रेजों ने चार्ल्स डारविन के जरिये विश्व को चौंकाया था। "ओरिजिन आफ स्पेसिज" के जरिये अंग्रेजों ने यूरोप, विशेषकर फ्रांस, को बताया था कि उनका आदर्शवाद, स्वतन्त्रता और समानता का नारा, भावुक ज्यादती मात्र है; गलत वक्त और स्थल पर आयी काव्य प्रेरणा है। डारविन के जरिये परोक्ष रूप से अंग्रेजों ने अपनी करतूतों, अतुलित धनलिप्सा और एशियनों को पशुओं जैसी जिन्दगी देने, को सही ठहराया था। साम्राज्यवाद को नैतिक बल दिया था। डारविन ने सिद्ध कर दिया था कि कमजोरों के प्रति क्षमा, दया और समानता का व्यवहार तथा उन्हें स्वतन्त्रता देना दिमागी उदारवादियों की तथा धर्मान्ध लोगों की जिद मात्र है। प्रकृति इस उदारता का समर्थन नहीं करती। प्रकृति जिसकी लाठी उसकी भैंस के सिद्धान्त पर चलती है। यहाँ बड़ी मछली छोटी मछली को खा जाती है। जो बलवान जातियाँ हैं वे कमजोरों का शोषण ही नहीं भक्षण भी करती हैं। वही वैज्ञानिक सिद्धान्त लागू करके मार्क्स ने एक नया अर्थ मानव इतिहास को दे दिया था। उसने कहा—यही सही है कि संसार में हमेशा धनवान कमजोरों का भक्षण करते रहे। मगर उसने एक खतरनाक बात और जोड़ दी। उसने कहा कि यदि कमजोर संगठित हो जायें और एक होकर खूनी संघर्ष करें तो आज के

बलवानों का नाश कर सकते हैं। उसने नारा दिया : दुनिया भर के मजदूरो एक हो जाओ, अपनी शक्ति को पहचानो। पूंजीवाद और साम्राज्यवाद को नष्ट कर दो। वर्ग संघर्ष मनुष्य की नियती है। इसे टाला नहीं जा सकता। इसलिए समझौता मत करो। निर्मम होकर खूनी संघर्ष करो। विजय तुम्हारी होगी।

इन विचारों ने इंग्लैण्ड के पूंजीवादियों को दहला दिया। वह सुख-चैन की जिन्दगी चली गयी। रूस की लाल क्रान्ति और वहां सत्ता मजदूरों और किसानों के हाथ में चले जाने के कारण मार्क्स के विचार प्रमाणित हो गये थे। उधर इंग्लैण्ड के बुद्धिजीवी भी नयी विचारधारा के पीछे हो लिये थे। अंग्रेजों के वैज्ञानिक मस्तिष्क में मार्क्स और फ्रायड वैज्ञानिक बनकर गहराई में घुसते जा रहे थे। कोई चारा नहीं था। उनके प्रवेश को रोका नहीं जा सकता था। जो वैज्ञानिकता दूसरों को गुलाम बनाने में सहायक रही थी वही वैज्ञानिकता अब इंग्लैण्ड की अपनी सुख-शान्ति नष्ट करने पर उतर आयी थी।

उधर फ्रायड था जिसने वैज्ञानिक मनोविश्लेषण के द्वारा यह सिद्ध कर दिया था कि श्रेष्ठता, नैतिकता, आदर्शवाद सब खोखली बातें है, मुखौटे है। दरअसल मनुष्य जड़ से एक राक्षस है। उसके अचेतन और अर्धचेतन में इतने अनैतिक और अपराधी तत्व भरे पड़े हैं कि वह कभी भी वैसा नहीं था, न हो सकता है जैसा रोमैण्टिक और विक्टोरियन साहित्यकारों ने उसे चित्रित किया है। इसके साथ डिकेन्स द्वारा रचे गये आनन्ददायी, मूलतः भोले-भोले, चरित्र, जैसे पिकविक, डेविड कापरफील्ड, बैटसी ट्राटवुड, स्नोडग्रास, सब अवास्तविक और झूठे हो गये। सर वाल्टर स्काट के द्वारा चित्रित महान आदर्शवादी योद्धा नायक जैसे आईविन हो काल्पनिक गल्प बन गये, जिन पर एक जाति आत्मसम्मान जैसी गम्भीर वस्तु की स्थापना नहीं कर सकती। वर्ड्सवर्थ की उद्दात नैतिक भावनाएँ, शेली और कीट्स की सच्चे प्रेम के लिए तड़प और बायरन की दूसरों की स्वतन्त्रता के लिए अपने प्राण विसर्जित करने की बानगी सब बनावटी ढकोसलें सिद्ध होने लगे। वे सभी उपलब्धियाँ जिनके आधार पर अंग्रेजों ने अपने को एक श्रेष्ठ जाति माना था झूठी पड़ गयी थीं। उनके पास कोई ऐसा साधन नहीं था कि फ्रायड द्वारा किये जा रहे मूल्यों के इस विध्वन्स को रोक पाते।

और तब एक धमाका हुआ अंग्रेजी साहित्य की दुनिया में, डी० एच० लारेन्स का उपन्यास 'लेडी चेटरलेज लवर'। इस उपन्यास ने विक्टोरियन लज्जा, शील, और शालीनता को उठाकर एक ओर रख दिया। एमिलि ब्रान्टी और हार्डी की प्रेमिकाओं की नफासत, शील और वफ़ा को छोड़कर, सारी विक्टोरियन परम्परा को छोड़कर, उच्छृंखल यौन सम्बन्धों का खुलकर समर्थन किया। अंग्रेज अदालतों ने इस पुस्तक को शुरू में अश्लील करार दिया किन्तु बाद में उन्हें भी फ्रायड के आगे झुकना पड़ा। जनसमूह के बदले हुए विचारों और भाव-

नाओं को देखकर उन्हें भी मानना पड़ा कि 'लेडी चॅटरलेज लवर्स' यथार्थ है अश्लीलता नहीं। अगर वह अश्लील लगी है तो यह हमारी नज़र का खोट है। हमारी नजरों पर झूठी विक्टोरियन नैतिकता का चश्मा चढ़ा हुआ है।

फ्रायड ने मानव स्वभाव के सम्बन्ध में जो निराशाजनक वैज्ञानिक निष्कर्ष प्रस्तुत किये उन्होंने शेष यूरोप की तरह इंग्लैण्ड में भी मनुष्य का अवमूल्यांकन कर दिया। फ्रायड का असर बहुत व्यापक था। मानव जीवन के सभी अंगों पर इसका प्रभाव पड़ा। साहित्य, कला, संगीत कोई भी क्षेत्र इससे अछूता नही रहा। वर्नी जोन्स, टर्नर, सेज़ान, वान गॉग, रेनुआ के चित्र अपना आकर्षण खो बैठे। बहुतों को अत्याधिक रूमानी और मानव जीवन की सतही अभिव्यक्ति करने लगे। जो इनके प्रसंशक थे वह भी यह मानने लगे कि ये उस सुन्दर अतीत के चित्र है जो अब नहीं लौट सकता, विश्वयुद्ध ने जिसके चीथड़े कर दिये है। तब विश्वमंच पर बिल्कुल नयी तरह के चित्रकार आये, पिकासो और सल्वाडोर डाली। पिकासो के चित्र 'ग्यूरेनिका' ने समूचे यूरोप का ध्यान खींचा। इसमें उसने घोड़े के जरिये युद्ध की विभीषिका को चित्रित किया था। पिकासो टूटे हुए चेहरों को, टुकड़े-टुकड़े हुई चीजों को गलत ढंग से जोड़ने वाला चित्रकार था। उसका कहना था कि वह मनुष्य के अचेतन का चित्रकार है, उसकी चेतना का नहीं, क्योंकि चेतना सतही है, प्रतिबन्धित है जबकि अचेतन उसकी अपनी दुनिया है, जिसमें बचपन से आज तक टूटे उसके सारे खिलौने जमा है। विश्वयुद्ध ने निर्ममता से मनुष्य के व्यक्तित्व के टुकड़े-टुकड़े कर दिये है। वह अर्ध विक्षिप्त हो चुका है। अगर उसके मानस पर तर्क और बुद्धि का इतना सख्त अनुशासन न हो तो हम पायेगे कि वह एक फूलदान को भी समूचा, एक वस्तु के रूप में, देखने की क्षमता खो चुका है। उसके हृदय में उस फूलदान का बिम्ब पड़ने से पहले वह फूलदान टूट जाता है। उसका अचेतन उसके टुकड़ों से भर जाता है। फिर अचेतन उसके टुकड़ों को उल्टा सीधा करके जोड़कर कुछ का कुछ बना देता है। यही आज का अतिउग्र यथार्थ-वाद (सररियालिज्म) है। इसी तरह आज का मनुष्य दूसरे मनुष्य को मनुष्य के रूप में नहीं देखता। मनुष्य मनुष्य के हाथों इतना आहत हो चुका है कि मनुष्य उसे पशु-प्रेत आदि नजर आता है, और कभी बहुत सी जातियों का एक उलझा हुआ संगठन नजर आता है, जिसकी आँखें मुँह पर न होकर पेट में हैं, चेहरा आधा है और सिर की जगह एक सींग है।

चित्रकला का नया आदर्श बना अचेतन में पड़े बिम्बों को सही-सही अभि-व्यक्ति देना। चित्रकला पूरी तरह फ्रायड के विचारों से आक्रान्त हो चुकी थी। फ्रायड से ही प्रभावित होकर अमेरिका में हेनरी मिलर ने इमरसन, थोरियो, मेल-विले की परम्परा को छोड़ दिया। उसने अमेरिकी जीवन की घृणित अश्लीलता और दारुण पाशविकता को अपने उपन्यासों : "द ट्रापिक आफ कैन्सर", "प्लेक्सस",

"सैकसस", "द ट्रापिक आफ केप्री कार्न" में प्रस्तुत किया। उधर जेम्स जोएस अपने उपन्यास "यूलिसिस" में एक ऐसी भाषा का अविष्कार कर रहा था जिसमें न विराम हो न कोमा, न सेमिकालन। उसका कहना था कि उपन्यास को मानव-चेतना का पूर्ण बिम्ब होना चाहिए। चाहे एक व्यक्ति के जीवन के एक दिन की कथा एक हजार पन्नों में लिखी जाय और चाहे उसमें कितनी ही निरर्थक और महत्वहीन बातें लिखी हों, वह सच्चा साहित्य कहलाने का हकदार है क्योंकि उन चौबीसों घण्टों में उसकी चेतना की नदी में जो कुछ भी बहा है वह सब उस उपन्यास में उतर आया है।

गरट्रड स्टीन ने एक और नया और पागल कर देने वाला नारा दिया। उसने कहा कि भावनात्मक भाषा ने कभी भी जीवन के सत्य को अभिव्यक्त नहीं होने दिया। अतः उपन्यासकार को एक सर्वथा भावनाविहीन भाषा (अनइमोटिव लैंगवेज) का प्रयोग करना चाहिए। तभी वह जीवन के सत्य को प्रदर्शित कर सकेगा।

गर्ज यह कि फ्रायड के सशक्त प्रहार ने साहित्य और कला जगत की सभी पुरानी मान्यताओं को तोड़ दिया। नये-नये प्रयोग होने लगे, मर्यादाएँ टूटने लगीं, शालीनता एक झूठा मुखौटा बन गयी और सच्चरित्रता असली चरित्र को छुपाने वाली बेईमानी। इस भंवर में अंग्रेजी सभ्यता का जहाज डूबने लगा।

आइंस्टीन की न्यूक्लियर फिजिक्स ने भी अंग्रेजों की विज्ञान क्षेत्र में प्राप्त की गयी उपलब्धियों को पुरानी और गर्व के अयोग्य बना दिया। अमेरिका ने एटम बम बनाकर इंग्लैण्ड को बहुत पीछे छोड़ दिया। इंग्लैण्ड की भौतिक प्रगति का आधार था आईजक न्यूटन का भौतिक शास्त्र। आइंस्टीन ने उसे सिर्फ चुनौती ही नहीं दी थी गलत भी साबित कर दिया था। इससे अंग्रेजों के आत्मविश्वास को गहरी चोट पहुँची थी। विश्वयुद्ध के बाद का इंग्लैण्ड अपने प्रति सन्देहों से भर चुका था। उसका व्यक्तित्व टूट रहा था। उसे उसकी वैज्ञानिक मान्यताओं ने ही छल लिया था।

☐

आध्यात्मिक शक्ति और साम्प्रदायिक कमजोरी

अंग्रेज गांधी जी का सामना नहीं कर सके। गांधी एक व्यक्ति था जो पूरी तरह समन्वित था, जिसका अचेतन चेतन से भिन्न नहीं था। उसमें वह व्यक्तित्व की टूट-फूट नहीं थी जिससे प्रथम महायुद्ध के बाद यूरोप और अमेरिका के सभी महापुरुष ग्रस्त थे। एल्डस हक्सले, बर्ट्रेण्ड रसेल, विलियम फाकनर, अर्नेस्ट हेमिंग्वे, पिकासो सबके-सब चेतन और अचेतन इन दो टुकड़ों में टूट गये थे। हर आदमी में जैसे दो परस्पर विरोधी व्यक्ति जी रहे थे। कोई भी विश्वसनीय नहीं था। किसी की भी आवाज मानवता की सच्ची आवाज नहीं लग रही थी। राजनैतिक नेताओं का हाल और भी बुरा था। उनके कारण विश्वयुद्ध हुआ था। उनके कारण विश्व की अर्थव्यवस्था युद्ध के बाद पूरी तरह तहस-नहस हो गयी थी। करोड़ों लोग बेरोजगार हो गये थे। बाजार सामान से भरे हुए थे किन्तु लोगों के पास खरीदने को पैसे नहीं थे। अन्न के दाम बहुत गिर गये थे। किसानों को फसल के बदले लागत भी नहीं मिल रही थी। अतः खड़ी फसलें जलायी जाने लगीं ताकि कुछ दाम बढ़े। यह अर्थव्यवस्था अजीब थी जिसमें खड़ी फसलें जलायी जा रही थीं और लोग भूखों मर रहे थे। युद्ध के बाद कुछ वर्षों तक सिर्फ अमेरिका में खुशहाली नजर आयी किन्तु फिर वहाँ भी वही हाल हो गया। किशोर और किशोरियाँ घरों से रोजगार की तलाश में निकल पड़े। बीसवीं सदी में अमेरिका जैसे देश में फिर गुलामी लौट आयी। बच्चों से गुलामों जैसा व्यवहार किया जाने लगा। अनैतिकता अपने चरम शिखर पर पहुँच गयी। इंग्लैण्ड विश्वयुद्ध से पहले विश्व की आर्थिक राजधानी भी बन गया था। अब अमेरिका ने यह स्थान छीन लिया था। पश्चिम का ज्ञान और विज्ञान मानवता को विनाश के कगार पर से ले आया था। कुछ वर्षों पहले अपनी जिस चालाकी पर अंग्रेजों को नाज था, जिसके सहारे उन्होंने भारत के अपेक्षाकृत सीधे लोगों से सत्ता और धन छीना था, वह चालाकी अब स्वयं उन्हें ही छल रही थी। अंग्रेज नवाबों ने जिस नीचता के साथ भारतीय महिलाओं के साथ खिलवाड़ किया था, केवल चाय बगानों में नहीं हर स्तर पर,

और उन्हें मनुष्य नहीं मात्र विलास की सामग्री समझा था, नियती के क्रूर मजाक के रूप में वही सब अंग्रेज महिलाओं के साथ लन्दन में होने लगा था। 'जैसी करनी वैसी भरनी' वाला भारतीयों का कर्म सिद्धान्त इतनी जल्दी स्वयं इंग्लैण्ड में सिद्ध हो जायेगा इसका अनुमान किसी अंग्रेज शासक को नहीं था। डालर से जेबें भरे, अमेरिकी मनचले, युद्ध के बाद, लन्दन में महिलाओं को विलास की कठपुतली बना रहे थे। और अंग्रेज महिलाएँ स्वेच्छा से यौन अनैतिकता का जीवन स्वीकार कर रही थीं मानो अपने पूर्वजों द्वारा भारत में किये गये कुकृत्यों का प्रायश्चित कर रही हों। ऐसे समय में गांधी की आवाज अलग थी। निराश पश्चिम ऑस्वाल्ड स्पेंगलर की भाषा बोल रहा था: 'घृणा मनुष्य का सबसे बड़ा गुण है। दया और सहानुभूति कायरता के लक्षण हैं। मनुष्य का सबसे बड़ा आदर्श है सिंह, जो वीर है, चालाक है, क्रूर है।' ये विचार नये नहीं थे। फ्रेडरिक नीत्शे से भी ये उपदेश पश्चिम सुन चुका था। लेकिन अब इन शब्दों का असर ज्यादा था क्योंकि जख्म ताजे और गहरे थे।

रोमा रोलां, जुंग, अल्बर्ट स्वेत्जर सबके-सब भारत के प्राचीन ज्ञान की ओर तेजी से आकर्षित हो रहे थे। उनकी धारणा आम लोगों तक पहुँच चुकी थी कि पश्चिम का ज्ञान सतही है। सच्चा ज्ञान भारतीयों के पास है।

महात्मा गांधी उस ऋषि परम्परा के प्रतीक नजर आये पश्चिम को और फिर वे अकेले नहीं, उनसे पहले स्वामी रामकृष्ण परमहंस और स्वामी विवेकानन्द से भी पश्चिम ये विचार सुन चुका था। भारतीय परम्परा में कोई शक्ति है जो हमेशा ऐसे व्यक्तियों को जन्म देती रही है। पूरा पश्चिम जिज्ञासा से भर उठा, वह क्या शक्ति है?

अंग्रेजों की युद्ध से पहले की श्रेष्ठता ग्रन्थि टूट गयी थी। उनके हृदयों में कोई जो उनसे भी अधिक प्रबल था कह रहा था तुम महान नहीं हो, महान गांधी है। तुम्हारे पास चालाकी और क्रूरता की ताकत है; तोप और गोली की शक्ति है। तुमने विश्वयुद्ध के नतीजे को देख लिया है कि यह शक्ति कितनी छिछली और कुण्ठाजनक है। गांधी के पास वे सनातन शस्त्र हैं—सत्य, नि:स्वार्थ, अहिंसा और प्रेम जो कभी भी खण्डित नहीं होते।

इंग्लैण्ड ईसा मसीह को एक नये रास्ते से समझ रहा था। ईसा मसीह एक प्रयोग के रूप में उसके सामने खड़ा था और सत्य के अनूठे प्रयोग कर रहा था। मानवीय आदर्शों को वे व्यर्थ की नैतिक बकवास, हीजड़ों का प्रवचन समझ बैठे थे, जैसा नीत्शे और स्पेंगलर ने कहा था। किन्तु उसके सामने हाड़-मांस का बना एक आदमी खड़ा था जो यही नैतिक बातें कह रहा था। मानवीय आदर्शों को जीने का एक मात्र मार्ग बता रहा था और वह न हीजड़ा था, न कमजोर था, न भयभीत था। उसके पीछे करोड़ों लोग चल रहे थे, जैसे अन्धड़ के पीछे पत्ते चलते

हैं। उसके देश ने भी दुःख देखा था। इतना दुःख, दमन, अभाव और क्रूरता को सहा था जितना समूचे पश्चिम को मिलकर भी नहीं सहना पड़ा था। मगर उसके शब्दों में न कटुता थी, न नफरत, न बदला लेने की भावना और तब अंग्रेजों को एक और भय ने घेरा। एक महापुरुष कहकर अगर इसके आचरण की उपेक्षा भी कर दें तो इसके पीछे चलने वाले करोड़ों लोगों की उपेक्षा कैसे करें? माना कि उनमें कोई भी उसके स्तर का नहीं था, किन्तु ये सब आंशिक रूप से उन्हीं विचारों और सद्भावनाओं से भरे हुए थे। यह एक सी धुन सीखने से पैदा नहीं हो सकती। हर हृदय में इसका स्वतन्त्र उद्गम हुए बिना, केवल गांधी के कहने पर ये लाखों लोग यों हँसते-हँसते गोली खाने को तैयार नहीं होंगे। तो क्या इन गुलाम पशुओं में, जिनमें आज तक हमें सिर्फ हमारे गुणों का प्रभाव ही नजर आया था, इन अनपढ़ मूर्खों में भी आध्यात्मिक शक्ति का कोई स्रोत है जो हममें नहीं है या हममें बन्द पड़ा है? रोमा रोलां ने कहा ऐसा ही है। लूई फिशर ने कहा कि हाँ, ऐसा ही है। सी० एफ० एण्ड्रूज, मीरा बेन तथा अन्य अंग्रेजों ने भी कहा कि हाँ, ऐसा ही है।

यह बोध ब्रिटिश साम्राज्यवाद की नीवों में पानी बनकर घुस गया। साम्राज्यवाद को भी खड़े होने के लिए नैतिक बल चाहिए। अंग्रेज जान गया था कि वह आध्यात्मिक शक्ति के इस प्रभंजन को नहीं रोक सकता। उसने आज तक जो भी शक्ति अर्जित की थी वह इससे लड़ने के लिए नाकाफी थी। एक भय बनकर भारत की यह नयी शक्ति ब्रिटिश साम्राज्यवाद के हृदय में बस गयी थी।

मगर बिल्ली के मुँह लगी मलाई आसानी से नहीं छूटती। ब्रिटिश प्रधानमन्त्री चर्चिल गुर्राया—"एक नंगे फकीर के इशारों पर हम भारत छोड़ने वाले नहीं हैं। मुझे सम्राट ने प्रधानमन्त्री इसलिए नहीं बनाया कि मैं ब्रिटिश साम्राज्य को नष्ट करने वाली सभा का सभापति बनूं।" स्टण्ट राजनीति का सर्वोत्कृष्ट अभिनेता था चर्चिल। ब्रिटेन और अमेरिका के आर्थिक मोर्चे पर बिगड़ते सम्बन्धों को सुधारने में, स्टालिन को हिटलर के विरुद्ध और अपने पक्ष में करने में उसकी भूमिका प्रसंशनीय रही थी। किन्तु मूलतः और अन्ततः वह मात्र एक पश्चिमी नेता था। वह पूर्व से आ रहे उस तूफान को नहीं देखना चाहता था जो कुछ ही वर्षों में बिना चर्चिल के सभापतित्व के भी ब्रिटिश साम्राज्यवाद के टुकड़े-टुकड़े कर देने वाला था, जो ब्रिटेन को शक्तिशाली राष्ट्रों की प्रथम पंक्ति से उठाकर पीछे फेंक देने वाला था।

एक ओर तो चर्चिल ये नाटकीय मुद्राएँ और चुटीले संवाद बोलकर अंग्रेजों के टूटते साम्राज्यवादी दिलों को झूठे आसरे दे रहा था और दूसरी ओर वायसराय को गांधी से न मिलने की राय दे रहा था। हर तरीके से ब्रिटेन टूट चुका था और नहीं चाहता था कि गांधी उसके हृदय में झांककर उसकी कमजोरी को देख ले।

लेकिन वह कमजोरी ऐसी नहीं थी जिसे छुपाया जा सके। जख्मी ब्रिटेन सबकी आँखों के आगे टिकटिकियों पर खड़ा था।

कहावत है—पुरानी आदत मुश्किल से छूटती है। अंग्रेजों ने "फूट डालो और राज करो" की नीति पर एक इतना बड़ा साम्राज्य जीता था। जब उन्होंने जान लिया कि इस आध्यात्मिक शक्ति का वे सामना नहीं कर सकते तो उनके मन-सूबों ने नया रुख ले लिया—कैसे भारतीयों में फूट डाली जाये? भारतीय जनता के हृदय में वह कौन सा तत्व है जो उनके आध्यात्मवाद से भी गहरा है, जिसमें फूट डाल दी जाये तो उनकी आध्यात्मिक शक्ति लुप्त हो जायेगी और फिर एक बार अंग्रेजों की कुटिलता ने उनका साथ दिया। उनकी चालाकी ने आध्यात्मिक शक्ति को पराजित कर दिया। उन्होंने पाया कि भारतीयों की अध्यात्मिक शक्ति की परत के नीचे एक और शक्ति है—धार्मिक शक्ति, जिसे माचिस दिखाकर आसानी से साम्प्रदायिक विद्वेष में बदला जा सकता है। नीव में रखा गया यह बारूद भारतीय समाज और उसकी समस्त आध्यात्मिकता को नष्ट कर सकता है। काश, हमने आध्यात्मिक शक्ति को, जिसे विवेकानन्द से गांधी तक महापुरुषों की सशक्त वाणी और तप ने जगाया था, पुनर्जीवित करने की चेष्टा की होती। काश, हमने यह देखा होता कि धार्मिक सहिष्णुता आध्यात्मिक शक्ति नहीं होती, कि आध्यात्मिक शक्ति धर्म से नहीं आत्मा से उत्पन्न होती है। काश, हमने आत्मा के स्रोतों को खोलने की कोशिश की होती। तब अवश्य ही भारत का इतिहास कुछ और होता। साम्प्रदायिकता, जातिवाद, भाषावाद और प्रान्तवाद न होते।

अपनी कमजोरी की ओर से आँखें मीचकर, उन्हें नकार कर कोई भी जाति उनसे मुक्त नहीं हो सकती। इतिहासकार का कर्तव्य है कि विजय और पराजय, गौरव और अपमान के इस नाटक के पीछे छुपी उन शक्तियों को सबके सामने मंच पर लाये जिनके इशारों पर यह नाटक चला। वह जाति आगे बढ़ जाती है जो अपनी कमियाँ देखकर हताश नहीं होती, नपुंसक क्रोध में अपनी शक्ति को क्षीण नहीं करती और इतिहास से नये पाठ ग्रहण करती है, चेष्टा करती है कि जो कमी कल रह गयी थी वह कल न रहे।

पिछली कई शताब्दियों का इतिहास बताता है कि जहाँ भारत की आध्यात्मिक शक्ति का विकास उसके महापुरुषों, कवियों और दार्शनिकों (शंकराचार्य, रामानुज, अमीर खुसरो, तुलसीदास, कबीर, नानक, निजामुद्दीन औलिया) आदि की पवित्र वाणी में होता रहा वहाँ साथ-साथ धार्मिक मतान्धता भी सुदृढ़ होती रही। अनेक धार्मिक स्थल तोड़े गये, जबरदस्ती धर्म परिवर्तन कराये गये। तन्त्र के नाम पर नर-बलियाँ हुईं, धर्म के नाम पर गुरु तेग बहादुर को मौत के घाट उतारा गया और गुरु गोविन्दसिंह के मासूम बच्चों के प्राण लिये गये। आध्यात्मिक ज्ञान के साथ-साथ साम्प्रदायिक अज्ञान भी भारतीय हृदयों में पलता रहा।

1857 के बाद जब भारतीयों की आध्यात्मिक शक्ति संगठित होकर जगी तो लोग धार्मिक मतान्धता की इस शक्ति को लगभग भूल से गये। उन्होंने यह समझ लिया कि आध्यात्मिक शक्ति को सब धर्मों का सार मान लेने से धार्मिक मतान्धता दूर हो जायेगी। फलतः सारा जोर लोगों को यह बताने में रहा कि सभी धर्म एक ही आध्यात्मिक सत्य का उद्घोष करते हैं। यह चेष्टा नहीं की गयी कि आध्यात्मिक शक्ति को धर्मों से अलग करके एक स्वतन्त्र शक्ति के रूप में विकसित किया जाये जिससे इसकी जड़ें आत्मा में हो, व्यक्ति के पैतृक धर्म में नही। ऐसा करने पर उस तरह की आध्यात्मिकता जगती जो उपनिषदों के युग में जन्मी थी, जब धर्म उत्पन्न नहीं हुए थे। याज्ञवल्क्य, मैत्रेयी, गार्गी, आरुणी, सत्यकाम, जाबाला आदि ने जिस अध्यात्मवाद का पाठ पढ़ाया था उसका हिन्दू, बौद्ध या जैन धर्मों से कोई सम्बन्ध नहीं था। वह आध्यात्मिकता आत्मा से जन्य थी और वह वो तल है जहाँ धर्म, जाति, भाषा के अन्तर असर नहीं करते।

आध्यात्मिक शक्ति को धर्मों से जोड़ने में एक बहुत बड़ा खतरा है। यह खतरा धर्म के स्वभाव में निहित है। धर्म का स्वभाव है एक संगठन बनने का, एक आध्यात्मिक संगठन नहीं, एक सामाजिक और राजनैतिक संगठन बन जाने का। विश्व के सभी धर्म हिन्दू, कैथोलिक, प्रोटेस्टैण्ट, जैन, शिया, सुन्नी, बौद्ध, भागवत, शैव-वैष्णव इस तथ्य की पुष्टि करते है। जब भी आध्यात्मिक शक्ति को किसी धर्म से जोड़ा गया उसका पतन मतान्धता में हुआ। इतिहास बताता है कि धर्म की उत्पत्ति आध्यात्मिकता से हुई। आध्यात्मिकता की उत्पत्ति धर्म से नहीं। पहले वेद और उपनिषद आये। धर्म उनके बाद आये। पहले बुद्ध और महावीर को आध्यात्मिक ज्ञान हुआ। ईसा मसीह के बाद बाईबिल उनके शिष्यों ने लिखी और ईसाई धर्म चलाया। हजरत मुहम्मद को भी पहले आध्यात्मिक ज्ञान हुआ। इस्लाम धर्म बाद में संगठित हुआ।

अतः यह कहना सत्य के निकट होगा कि धर्म आध्यात्मिक टहनी पर खिला एक फूल मात्र है। धर्म को आध्यात्मिक शक्ति को जड़ मानना, आधार मानना, तथ्यों के विरुद्ध है।

हर पीढ़ी अपनी ओर से ज्ञान मार्ग प्रशस्त करती है। मगर अज्ञान है कि कोई न कोई रास्ता ढूंढ लेता है ज्ञान की जड़ में पहुँचने का, उसे अज्ञान और मतान्धता में बदल देने का। 1857 के बाद हमारे महान पूर्वजों ने नहीं चाहा था कि उनकी आध्यात्मिक शक्ति की जड़ में मतान्धता पहुँचे और राष्ट्रीय एकता के उनके यज्ञ को नष्ट कर दे। किन्तु फिर भी मतान्धता का घुन उनके द्वारा लगाये आध्यात्मिक पौधे की जड़ों में पहुँच गया और उसे खा गया। हर आने वाली पीढ़ी का कर्तव्य है कि वह निष्पक्षता से विचार करे, क्यों हमारे पूर्वजों का स्वप्न भंग हो गया? और नये सिरे से कोशिश करे कि वह विनाशकारी शक्ति दुबारा

कामयाब न हों। जो पीढ़ियाँ ऐसा करती हैं वे एक दिन अपने पूर्वजों का स्वप्न साकार कर दिखाती हैं। 1905 में बंगाल को साम्प्रदायिक आधार पर विभाजित करके लार्ड कर्जन ने अंग्रेजों की "लड़ाओ और शासन करो" की नीति को स्पष्ट रूप दे दिया था। भारतीय समझ गये थे कि उनमें साम्प्रदायिक बैर जगाकर अंग्रेज उन्हें लड़ाये रखना चाहते है। अतः प्रबुद्ध भारतीय नेताओं में धार्मिक एकता को जगाये रखने की एक भावनात्मक लगन जाग गयी थी। हिन्दुओं ने बंगाल में मुसलमानों के हाथों में राखी बाँधी थी। अंग्रेज चुप बैठा इस भावनाई उबाल को देखता रहा। उसने इतिहास के सबक भारतीयों की अपेक्षा कहीं अधिक तत्परता से सीखे थे। वह जानता था कि यह जोश भावुकता का प्रतीक है। वह जानता था कि किसी भी जाति को पथभ्रष्ट करने का बेहतरीन तरीका है धार्मिक विभिन्नता को महत्व दो, बात-बात में उसका जिक्र करो, उसके सम्भावित खतरों का तटस्थ विश्लेषण करो। इससे उन विभिन्न सम्प्रदायों में एक दूसरे से भय उत्पन्न होगा, भय से मोह उत्पन्न होगा और सन्देह से शत्रुता। दिन-प्रतिदिन वे सम्प्रदाय एक दूसरे से दूर होते जायेंगे। उनके बीच कुछ ऐसे लोग भी होंगे जिनके दिल इससे दुखेंगे और वे विभिन्न धर्मों में बसी एकता पर जोर देंगे। इसका उल्टा असर होगा अल्पसंख्यकों पर। वे यह निष्कर्ष निकालेंगे कि धर्मों की एकता पर जोर देकर बहुसंख्यक हमारे पृथक अस्तित्व को मिटा देना चाहते है, बड़ी मछली की तरह हम छोटी मछलियों को खा जाना चाहते हैं। एकतावादी नेताओं का दुःख अल्पसंख्यक नेताओं में सिर्फ क्रोध और जिद उत्पन्न करेगा। वे पृथकता के नारे पर अड़ते चले जायेंगे।

क्या यही सब बीसवीं शताब्दी के पूर्वार्ध में भारत में नहीं होता रहा? जितना महात्मा गांधी का हृदय हिन्दू-मुस्लिम एकता के लिए तड़पा उतना ही मुहम्मद अली जिन्ना को उनकी आँखों में मगरमच्छ के आँसू दिखायी देते रहे। शुरू में जिन्ना देश का विभाजन नहीं चाहते थे लेकिन जितना नेताओं ने साम्प्रदायिक एकता पर जोर दिया उतना ही उन्हें इसमें हिन्दुओं की चाल नजर आने लगी और अन्ततः उन्हें अंग्रेजों की बात में सत्य नजर आने लगा। अन्त में उन्होंने स्पष्ट कह दिया कि हिन्दुओं से मुसलमानों को न्याय की कोई आशा नहीं है। मुसलमान एक पृथक राष्ट्र बनकर ही सम्मान और न्याय का जीवन जी सकते हैं।

साम्प्रदायिक सद्भाव बढ़ाने की सारी चेष्टा एक भय से प्रेरित थी कि अंग्रेज दोनों सम्प्रदायों में फूट डालने में सफल न हो जाये। इस कारण उसके परिणाम उल्टे निकले। भय से प्रेरित कोई भी अच्छा विचार हितकर सिद्ध नहीं होता।

भारत के महापुरुषों ने साम्प्रदायिक सद्भाव बनाये रखने का एक दूसरा तरीका प्राचीन काल में अपनाया था और वह सफल रहा था। वही तरीका

उन्नीसवीं शताब्दी तक अनपढ़ भारतीय भी आंशिक रूप से अपनाए हुए थे। सम्भवतः इससे वेहतर दूसरा तरीका मनुष्य जाति को अभी तक मालूम नहीं है। इस भारतीय तरीके का प्रसिद्ध उदाहरण है भगवान महावीर और भगवान बुद्ध का एक दूसरे के प्रति आचरण। दोनों समकालीन थे। दोनों ने अलग-अलग धर्म चलाये थे। एक ने बौद्ध धर्म चलाया था, दूसरे ने जैन धर्म। किन्तु दोनों ने समकालीन होकर भी एक दूसरे के विचारों पर कोई टिप्पणी नहीं की। न खण्डन किया। यद्यपि दोनों के विचारों में वहुत एकता थी तथापि दोनों ने यह भी नहीं कहा कि हमारे धर्म एक से हैं। यह भारत का प्राचीनतम तरीका है—धर्म जैसे नाजुक मामले से निपटने का। वे धर्मों की समानता तथा एकता पर जोर नहीं देते थे क्योंकि इससे अनिवार्यतः धर्मों की भिन्नता और विरोध पर जोर देने वाले मैदान में आ जाते हैं। धर्मों की विभिन्नता को झेलने का तरीका है धर्म को व्यक्तिगत विषय मानना और पूरी तरह व्यक्ति पर छोड़ देना, धर्म को सामाजिक बतंगड़ न बनाना।

अधिकांश भारतीय अपने धर्म से प्रेम करते हैं। उनके लिए धर्म भावना का विषय है बुद्धि का नहीं। कोई मनुष्य यह पसन्द नहीं करता कि उसके प्रेम को सामाजिक विवाद का विषय बनाया जाये। प्रेम एक ऐसी वस्तु है जिसमें मनुष्य किसी भी अन्य का, अच्छा या बुरा, दखल पसन्द नहीं करता। अगर हम किसी को उसके प्रेम के लिए पुरस्कृत करें तो वह अपना अपमान महसूस करेगा। अगर किसी के प्रेम की प्रशंसा करें तो भी उसे अच्छा नहीं लगेगा। अगर किसी प्रेमी से कहें कि तुम्हारा प्रिय मेरे प्रिय जैसा है तो भी उसे बुरा लगेगा। अगर उसे कहें कि तुम्हारा प्रेम मेरे प्रेम जैसा है तो भी वह आहत महसूस करेगा। अगर कहें कि सबके प्रेम एक ही प्रिय की ओर ले जाते हैं, तो भी उसे अच्छा नहीं लगेगा। प्रश्न इन बातों के सच या झूठ होने का नहीं है। वास्तविकता यह है कि मनुष्य स्वभाव ऐसा है कि अपने प्रेम और प्रिय को सर्वथा अनोखा समझता है। यह समझता है कि उस जैसा दूसरा नही है। अतः इसकी एकता पर चर्चा करने से कभी भी एकता नहीं आती।

भारत में ग्रामीण शताब्दियों तक साथ-साथ रहे है, बिना अपने पड़ोसी के धर्म में रुचि लिये, बिना उसकी चर्चा किये, बिना अच्छा या बुरा कहे। भारत के महापुरुषों में किसी ने भी, सिवाय अकबर के, सब धर्मों की एकता का नारा नहीं दिया और उसका यह प्रयत्न (दीन इलाही) उसके जीवन काल में ही असफल हो गया और प्रतिक्रिया स्वरूप उसी का प्रपौत्र औरंगजेब धार्मिक एकता का कट्टर विरोधी हो गया और धर्म के आधार पर भेद-भाव को अपनी नीति बना बैठा।

सम्राट अशोक के शिलालेखों में अन्य धर्मों का जिक्र है। किन्तु सिर्फ यह कहा गया है कि सम्राट सब धर्मों का सम्मान करते हैं। धार्मिक सहिष्णुता बनाये

रखने का प्राचीन तरीका था : दूसरों के धर्मों के प्रति आदर-भाव तथा अनावश्यक जिज्ञासा का अभाव। अंग्रेजों ने इस प्राचीन चलन को उद्वेलित किया यह कहकर कि अगर दोनों सम्प्रदायों के बीच धार्मिक सद्भाव न रहे तो अल्पसंख्यकों के हितों की रक्षा सरकार कैसे करेगी? यह काल्पनिक समस्या शरारत से जन्मी थी। भारत मे साम्प्रदायिक दंगों की कोई परम्परा नहीं थी। आयरलैण्ड का पिछले सात सौ वर्षों का इतिहास कैथोलिक और प्रोटेस्टेण्टो के बीच साम्प्रदायिक मारकाट का इतिहास रहा था। अंग्रेज शासकों को तजुर्बा था दंगे कैसे भड़काये जाते है, कैसे सम्प्रदायों के बीच सद्भाव नष्ट किया जाता है।

साम्प्रदायिक सद्भाव और पारस्परिक विश्वास एक नाजुक भावना है जिसे काल्पनिक भय भी नष्ट करते है। ब्रिटिश सरकार ने उन काल्पनिक भयों को गम्भीर चिन्तन का विषय बना लिया। यह नकारात्मक चिन्तन भय और अफवाहें फैलाने का एक शरारती तरीका है। इतिहास साक्षी है कि भय का कोई आधार नहीं था। यह अंग्रेजों की चालकी से पैदा हुआ था। यह उनका बनाया कागजी शेर था। इसके बन जाने के पन्द्रह वर्ष बाद तक भी मुसलमानों ने इसकी वास्तविकता स्वीकार नहीं की थी। यह मुसलमानों के सौहार्द और दृढ़ता की एक ऐसी मिसाल है जो अंग्रेजों की कुटिलता का पर्दाफाश करती रहेगी।

मुसलमानों के अलावा और भी अल्पसंख्यक समुदाय थे भारत में जो संख्या में मुसलमानों से कहीं कम थे। यदि बहुसंख्यकों से भय भारतीय जनता का स्वभाव होता तो पारसियों, ईसाइयों और जैनों में भी जगा होता। उन्हें तो हिन्दू और मुसलमान दोनों से डर होता क्योंकि ये दोनों भारत के प्रथम और द्वितीय बहुसंख्यक सम्प्रदाय हैं। उन्हें यह डर होता कि ये दोनों सम्प्रदाय ही आपस में सारे अधिकार बाँट ले रहे हैं और हमें कुछ नही मिलेगा। किन्तु इन सम्प्रदायों में कोई ऐसी हलचल नहीं रही। इसका कारण था: अंग्रेजों ने मुसलमानों को छोड़कर अन्य अल्पसंख्यकों में यह भय नहीं जगाया।

एक सम्भावित भय पर गम्भीर चिन्तन करने से वह भय वास्तविक बन जाता है—अंग्रेज मानव मस्तिष्क के इस रहस्य से परिचित थे। अठारहवीं शताब्दी में उनके दार्शनिक बर्कले ने उन्हें इस राज से परिचित करा दिया था। उन्होंने इसका खुलकर प्रयोग किया। बेचारे भारतीय इस राज से अपरिचित थे। वे परमार्थिक सत्यों तक ही सीमित थे। वे यही मानते थे कि झूठ के पैर नहीं होते। वे अपने प्राचीन दार्शनिक नागार्जुन का यह कथन भूल गये थे कि परमार्थिक सत्य के अलावा एक और सत्य होता है, व्यावहारिक सत्य, और इस दुनिया में बहुत से झूठ व्यावहारिक बनकर दो पैरों पर चलते है।

तत्कालीन सेक्रेटरी आफ स्टेट हैमील्टन ने लार्ड कर्जन को लिखे अपने पत्रों में स्वीकार किया है कि अंग्रेजों को अगले पचास वर्षों में भारत छोड़ना पड़ सकता

। है उसने यह भी सुझाया है कि अंग्रेजों की नीति भारतीयों में फूट डालने की होनी चाहिए। ढाका के नवाब सलीम उल्लाह के नेतृत्व में अंग्रेजों ने मुस्लिम लीग का जन्म इसी उद्देश्य की पूर्ति के लिए कराया था। शुरुआत बंगाल के विभाजन को समर्थन देने से हुई थी।

यह सही है कि सभी धर्म काम, क्रोध, मद, लोभ के दमन की राह सुझाते हैं। किन्तु कुटनीति भी उतनी ही पुरानी है और वह रास्ता जानती है जिस रास्ते धर्म को ही ईंधन बनाकर इन मत्सरों की अग्नि में झोंका जा सकता है। स्थायी एकता का निर्माण कभी भी धार्मिक एकता की नींव पर नहीं हो सकता क्योंकि धार्मिक एकता को कभी भी विद्वेष में बदला जा सकता है। हमें भारत में स्थायी एकता लानी है। इसके लिए आध्यात्मिकता को आधार बनाया जा सकता है, उस आध्यात्मिकता को जो धर्म से पैदा नहीं होती वरन स्वतन्त्र है। ऐसी आध्यात्मिकता उपनिषदों में है, सूफी सन्तों में है, जलालुद्दीन रूमी, निजामुद्दीन औलिया, नानक, कबीर, और मीरा में है। इस तरह की आध्यात्मिकता हर जाति के अतीत में कभी न कभी रही है। धर्मों की उत्पत्ति से पहले यही था। यह विभिन्न जातियों में कभी फूट नहीं डाल सकती। इसी धर्म निरपेक्ष आध्यात्मिकता को पण्डित नेहरू ने अपने व्यक्तित्व का आधार बनाया था। यह भारतीय जनता को, सन् 47 के नरसंहार के बाद, कितनी उपयुक्त लगी है यह इससे सिद्ध हो जाता है कि उन्होंने अपना विश्वास और प्रेम सबसे ज्यादा नेहरू और उनके वंशजों को दिया। भारत जनमानस चाहता है कि नये भारत की, इक्कीसवीं सदी के भारत की, नींव धार्मिक सहिष्णुता पर नहीं, आध्यात्मिक एकता पर रखी जाए। □

अंग्रेज और सिक्ख अलगाववाद

1857 का सैनिक विद्रोह "बंगाल नेजेबाजों" (Bengal Lancers) का कारनामा था। बंगाल नेजेबाजों में ज्यादातर उत्तर प्रदेश और बिहार के सैनिक थे। इस विद्रोह को कुचलने के लिए सिक्ख सैनिकों ने बहुत काम किया था। इस अनुभव ने अंग्रेज कूटनीति को हिन्दुओं और सिक्खों को अलग करने की एक ज्वलन-शील वासना से भर दिया। इसके लिए अंग्रेजों ने जो रास्ते अपनाये वे अपनी नीचता और सत्यघात के लिए बेमिसाल हैं। विद्यार्थियों के लिए यह एक रोचक और ज्ञानवर्धक विषय है। पहले भी विदेशी आक्रमणकारियों ने विजय प्राप्त करने के बाद चालाकी से भारत के धर्मों का राजनैतिक उपयोग किया था। जब जनता को राजनैतिक लोग धर्म ग्रन्थों का अर्थ समझाने लगते हैं तो वे धर्म को सत्ता की नौकरानी बना देते हैं। वे धर्म को मन्दिर की पवित्रता से निकालकर राजनीति के चकलों में पहुँचा देते हैं। इस्लाम, हिन्दू धर्म और सिक्ख धर्म तीनों इसके शिकार रहे है। पश्चिम ने इस खतरे को बहुत पहले जान लिया था। इस कारण वहाँ ईसाई ग्रन्थों के अर्थ राजनीतिज्ञों ने समझाने बन्द कर दिये। धर्म और राजनीति के बीच यह अलगाव किसी भी सभ्य समाज के लिए अनिवार्य है। इंग्लैण्ड में यह अलगाव अपने आप नहीं आया। इसके लिए वहाँ की जनता को शताब्दियों तक संघर्ष करना पड़ा।

अंग्रेज शासकों ने अपनी "शासकीय वार्षिक रिपोर्ट" 1854-55 में इस बात पर खेद प्रकट किया था कि "सिक्ख हिन्दुओं से अलग नहीं है और अपने को अलग नहीं समझता। सिक्ख एक हिन्दू ही है, एक विशिष्ट कार्य करने वाला हिन्दू, हिन्दू धर्म के शत्रुओं का संहार करने वाला हिन्दू। जब हिन्दू धर्म को कोई खतरा नहीं रहता तो अमृतसर में सिक्ख बनने के लिए हिन्दू आने बन्द हो जाते हैं और सिक्ख खालसा छोड़कर फिर हिन्दू हो जाते हैं।"

1855-56 की वार्षिक रिपोर्ट में अंग्रेज शासकों ने इस एकता को निराशा-जनक कहा है। "यह हमारे शासन की नींव को नष्ट कर देगी," इस रिपोर्ट में यह चेतावनी दी गया थी। अंग्रेज एक व्यावहारिक जाति है। वह कोरे कागजों पर

अपने को चेतावनी नहीं देती। इस चेतावनी के साथ ही ब्रिटिश शासन जुट गया हिन्दुओं और सिक्खों के बीच अलगाव और बैर पैदा करने में। इसके लिए उन्होंने घृणित से घृणित, असभ्य से असभ्य, रास्ते भी अपनाये। यहाँ तक कि उन्होंने अंग्रेज विद्वानों को रुपये और पद देकर उनसे सिक्ख धर्म का इतिहास इस निर्देश के साथ लिखवाया कि वे थोड़ा सा सुझाव इस बात को सिद्ध करने की ओर रखें कि "सिक्ख धर्म हिन्दू धर्म का विरोधी है और इस्लाम का अंग है।"

वह युग अंग्रेजों की बजाय जर्मनों की दार्शनिकता का कायल था। हीगल, शूपेनहावर, काण्ट, नीत्शे, जैसे—दार्शनिक जर्मनों ने पैदा किये थे जिनके सामने अंग्रेज दार्शनिक ह्यूम और बर्कले बच्चे थे। जर्मन मैक्स मूलर हिन्दू धर्म की व्याख्या कर रहा था। भारत में भी लोग अंग्रेजों की बजाय दर्शन और धर्म के क्षेत्र में जर्मन की बात को अधिक महत्व देते थे।

अतः सबसे पहले अंग्रेजों ने इस काम के लिए जर्मन विद्वान डाक्टर ई० ट्रम्प (E. Trumpp) को भारत में आमन्त्रित किया मगर वह दार्शनिक उनकी सेवा न कर सका। उसने जो अंग्रेज चाहते थे उसका उल्टा ही लिख दिया। वह धन के लालच में सत्य की हत्या करने को तैयार नहीं हुआ। उसने लिखा—"नानक पूर्णतया एक हिन्दू थे, एक सच्चे हिन्दू जो अपने धर्म में आयी कुरीतियों को दूर करना चाहते थे। वे उन्हीं अनेक देवी-देवताओं को पूजते थे जिन्हें हिन्दू पूजते हैं। बाद के सिक्ख धर्म में उन अनेक देवी-देवताओं की जगह एक "अकाल पुरुष" को स्थापित किया गया। यह परिवर्तन नानक के धर्म के विरुद्ध है।"

इस कटु अनुभव के बाद अंग्रेज सरकार ने जर्मन विद्वानों से काम लेने का इरादा छोड़ दिया। अब उनकी नजरें घूमीं अपने ही कुछ अंग्रेज प्रशासकों पर जिनसे यह काम आसानी से लिया जा सकता था। इनमें प्रमुख थे—लेपेल हेनरी ग्रिफेन (Lapel Henry Griffen) और एम० ए० मैकालीफ(M.A. Macauliff)। इनकी पुस्तकों का मुख्य आशय था—"सिक्ख धर्म और हिन्दू धर्म दोनों परस्पर विरोधी धर्म हैं। सिक्ख धर्म खतरे में। इसे खतरा केवल हिन्दू धर्म से है। हिन्दू धर्म एक नाग है जिसने इसे अपनी गुंजलको में लपेट रखा है और यह नाग इसे निगल लेगा।"

इन अंग्रेज प्रशासकों ने सिक्ख धर्म ग्रन्थों के अर्थ के अनर्थ ही नहीं किये बल्कि जोश में आकर खुद उन ग्रन्थों में अपनी ओर से कुछ बातें भी जोड़ दीं। उन्होंने यह भी जोड़ दिया कि गुरुओं ने भविष्यवाणी कर रखी थी कि—"एक दिन अंग्रेज भारत में आयेंगे और सिक्ख उनके प्रति वफादार रहेंगे।"

उन्होंने राय भी दी। उन्होंने कहा कि "सिक्ख बच्चों को हिन्दू वातावरण में पालना उनका नाश करने जैसा है क्योंकि हिन्दुओं के बीच पलकर वे अंग्रजों को

म्लेच्छ कहने लगे हैं और भूल गये हैं कि गुरुओं ने भविष्यवाणी करके उन्हें आदेश दिया था कि अंग्रेज के प्रति वफ़ादार रहना।"

एक तीसरे अंग्रेज थामस पैट्रिक ह्यूजेज ने वाक् की सभी मर्यादाओं का उल्लंघन करते हुए अपनी पुस्तक "डिक्शनरी आफ इस्लाम" में शिया और सुन्नियों की तरह सिक्ख धर्म को इस्लाम का एक अंग घोषित कर दिया। यह बात महत्वपूर्ण है कि स्वयं इस लेखक ने यह स्वीकार किया है कि ऐसा उसने ब्रिटिश इशारे पर किया है।

इन अंग्रेज तनखैया विद्वानों की इस झूठी परम्परा को उनके बाद के अनेक भोले सिक्ख बुद्धिजीवियों ने अपना लिया। अंग्रेज ने अपनी अलगाव वाली नीति को स्थायी बनाने के लिए इन विद्वानों, ज्ञानियों का सहारा लिया। इस नीति को तुरन्त प्रभावी करने के लिए सिक्खों को यह महसूस कराना शुरू किया कि "हम तुम्हें खास आदमी समझते हैं।"

अंग्रेज जाति को इस बात का गर्व रहा कि उपनिवेशों की शासन व्यवस्था में उन्हें सत्य की जरूरत नहीं पड़ी। उन्होंने सत्य को प्रशासन में हस्तक्षेप नहीं करने दिया। झूठ के सहारे उनके सारे काम चल गये।

ऐसा ही एक "झूठा शेर" उन्होंने भारतीय उपनिवेश को दिया—"मार्शल रेसेज—वीर जातियें"। उन्होंने ऐसे शेर अपने देश को नहीं दिये क्योंकि झूठ केवल उपनिवेशों के लिए था। अंग्रेज ने यह भेद उन पूरबियों को गिराने के लिए किया था जो "बंगाल नेजेबाजों" में थे। उन नेजेबाजों ने अंग्रेजों को पंजाब पर विजय दिलायी थी और उन्होंने ही बाद में 1857 में विद्रोह किया था। उन पूरबियों को इसकी सजा देने के लिए अंग्रेजों ने पांचवें वर्ण की रचना कर डाली—वीर जातियें। हिन्दुओं के चार वर्णों में ब्राह्मण सर्वोपरि थे। "तुम ब्राह्मण जरूर हो मगर मार्शल रेस नहीं हो।" अंग्रेज यह महसूस कराना चाहता था उन बिहारी ब्राह्मणों को जिन्होंने 1857 का विद्रोह किया था। वह जानता था कि ब्राह्मण अपने को हीन समझने लगेगा तो उससे नीचे के वर्ण अपने आप ही हीन हो जायेंगे।

हिन्दुओं में मार्शल वर्ण, क्षत्रिय है। किन्तु अंग्रेजों ने एक वर्ण की नहीं एक जाति, एक रेस (Race) की रचना कर डाली। इस तरह फूट की फसल अच्छी उगती है। सिक्खों और गोरखों को अंग्रेजों ने मार्शल रेस कहा, क्षत्रिय केवल मार्शल वर्ण रह गये। सिक्खों और गोरखों को 1857 में अंग्रेजों का साथ देने का बहुत बड़ा ईनाम मिला था। इस मुआवजे से वे बहुत खुश हुए। इस खुशी में वे ये न देख सके कि यह सम्मान ऐसा ही था जैसे किसी गरीब को जरीदार कमीज तो पहनायी जा रही हो लेकिन उसका कच्छा या लंगोटी उतारी जा रही हो।

डी० पैट्री असिस्टेण्ट डायरेक्टर, क्रिमिनल इन्टेलिजेन्स, भारत सरकार ने 1911 में एक गुप्त सी० आई० डी० मेमोरेण्डम तैयार किया था जिसमें गर्व के

साथ घोषणा की गयी थी—"हर सम्भव प्रयत्न किया गया है कि सिख हिन्दुओं से अपने को अलग समझें। सिर्फ अलग ही नहीं, अपने को एक अलग राष्ट्र समझें।"

अंग्रेजों ने सिक्खों को राजनैतिक तल पर भी पृथक् करने के ब्रिटिश-शोधित बीज वो दिये थे। भूतपूर्व सिक्ख सैनिकों की मदद से सिंह सभाएँ शुरू की गयीं। इन सभाओं के ऊपर दो खालसा दीवान बनाये गये, अमृतसर और लाहौर में। बाद में दोनों खालसा दीवानों को मिलाकर एक कर दिया गया। इसका काम अंग्रेज नियन्त्रण में सिक्खों का राजनैतिक मार्ग निर्देशन करना था। इसके सभी मेम्बर अंग्रेजों के प्रति वफ़ादारी रखते थे। 1888 में उन्होंने माँग की कि उन्हें भी अलग एक जाति माना जाये। हरमिन्दर साहेब के पुजारी ब्राह्मण हुआ करते थे। उन्हें भी निकाल दिया गया। हरमिन्दर साहेब में हिन्दू देवी-देवताओं की जो मूर्तियाँ अरसे से रखी थीं और जिनकी प्रशंसा में नानक ने गीत गाये थे, वहाँ से हटा दी गयीं। अब तक ब्राह्मण ही सिक्खों के विवाह आदि संस्कार कराते आये थे। वह परम्परा समाप्त कर दी गयी। 1909 में अंग्रेजों ने आनन्द मैरिज एक्ट पास करके सिक्खों के लिए अलग संस्कार विधि लागू कर दी।

सिक्खों और हिन्दुओं के बीच यह अलगाववाद ज्यादा पुराना नहीं है। 1857 से पहले यह नहीं था। स्वयं महाराजा रणजीत सिंह ने अमृतसर मन्दिर में, परिक्रमा स्थल में, हिन्दू देवी-देवताओं की मूर्तियाँ स्थापित की थीं। अफ़गानों को हराकर सोमनाथ के मन्दिर का दरवाजा वे वापस लाये थे और सोमनाथ मन्दिर को दिया था। यह दरवाजा महमूद गजनवी सोमनाथ के मन्दिर से ले गया था। रणजीतसिंह ने जो स्वर्ण अफ़गानों से प्राप्त किया था उसका एक चौथाई उन्होंने विश्वनाथ मन्दिर को चढ़ाया था। नवें गुरु तेगबहादुर को गर्व था कि उन्होंने ब्राह्मणों के तिलक और जनेऊ की रक्षार्थ औरंगजेब से विद्रोह किया था। स्वयं दसवें गुरु गोविन्दसिंह ने मार्कण्डेय ऋषि के "दुर्गा सप्तशती" हिन्दू ग्रन्थ का अनुवाद "चण्डी दी वार" के नाम से किया था। वे स्वयं हिन्दू देवी चण्डिका के उपासक थे। आश्चर्य की बात तो यह है कि इतने प्रबल एकता के धागों के होते हुए भी अंग्रेज कुछ सिक्खों में अलगाववाद की भावना जगाने में सफल हो गये।

अंग्रेजों की इतनी बहुमुखी चेष्टाओं के बावजूद साधारण सिक्ख जनता यह कभी नहीं भूली कि हिन्दू और सिक्ख एक धर्म की ही शाखाएँ हैं, एक संस्कृति के फूल हैं, उनकी एक कहानी है और एक इतिहास है। 1907 में जब गोखले पंजाब पहुँचे तो उनका भव्य स्वागत हुआ। खालसा कालेज की स्थापना अंग्रेजों ने 1892 में सिक्खों को हिन्दुओं से अलग करने के उद्देश्य से की थी। उसी खालसा कालेज के लड़कों ने बग्घी के घोड़े हटाकर उस बग्घी को अपने हाथों से खींचा।

इसी सभा में बांके दयाल का गीत "पगड़ी संभालओ जट्टा" गाया गया जो पंजाब की युद्ध हुंकार बन गया।

यह कैसे हो सकता था कि अंग्रेज सिक्खों में राष्ट्रवाद बढ़ायें और हिन्दुओं का राष्ट्रवाद सिक्खों के साथ-साथ न बढ़े। सिक्ख गुरुओं की गौरव गाथा को हिन्दुओं ने हमेशा अपनी गौरव गाथा माना था।

अतः मिस्टर पेट्री के सी० आई० डी० मेमोरेण्डम का सुर बहकने लगा उन्होंने लिखा—"अंग्रेजों द्वारा ज्यादा पीठ सहलाने के कारण सिक्खों के सिर में हवा चढ़ गयी है।"

इस बीच कुछ सिक्ख जाकर ब्रिटिश कोलम्बिया, वेनकर, अमेरिका में बस गये थे। वहाँ उन्हें सम्मान नहीं मिला। अमेरिकी आजाद सोहवत में उन्हें अंग्रेजों का खेल साफ नजर आया। वे सिंह सभाओं और खालसा दीवान के विरुद्ध बोलने लगे। परदेश में रहते हुए उन्हें भारत माता की आवाज अपने दिलों में सुनायी दी क्योंकि वहाँ उन्हें मार्शल रेस कहने वाली झूठी, खुशामदी, चालाक आवाज नहीं थी। वहाँ उन्हे एक गुलाम देश की गरीबी और दलित अवस्था से घबराकर भागे हुए भगोड़ों का दर्जा मिला था। उन्होंने समूचे भारत के नेताओं को अपना नेता माना चाहे वे बंगाली थे या मराठे। उन्होंने उन सिक्ख नेताओं को गद्दार कहा जो अंग्रेजों की वाणी बोल कर निहाल हो रहे थे। 1925 में अंग्रेजों ने अल-गाव का एक सशक्त शस्त्र रखा—शिरोमणि गुरुद्वारा प्रबन्ध समिति एक्ट और इसके साथ सिक्ख धर्म का बड़ी निर्दयता के साथ राजनैतिकरण कर दिया गया। जो सिक्ख खालसा नहीं बनते थे उन्हें दूसरे दर्जे का सिक्ख समझा जाने लगा।

लेकिन सिक्खों ने अलग राज्य खालिस्तान की माँग नहीं की जबकि अंग्रेजों ने उन्हें खालिस्तान का नारा बहुत पहले दे दिया था। जब मुस्लिम लीग ने पाकिस्तान की माँग की तो अंग्रेजों ने सिक्खों को बहुत उकसाया कि वे खालिस्तान की माँग करें लेकिन अंग्रेज सफल न हो सके। पाकिस्तान की प्रोपेगेण्डा मशीनरी को यह श्रेय जाता है कि जो काम अंग्रेज नहीं कर सके उसे उन्होंने कर दिया। सिक्खों के एक प्रभावशाली ग्रुप ने उग्रवाद को अपनाया, हिन्दू-सिक्ख एकता समर्थकों की हत्या करनी शुरू कर दी, और खालिस्तान की माँग की। अधिकांश सिक्ख चुप रहे। पाकिस्तान के मार्शल ला प्रशासक जनरल जिया ने सिक्ख बुद्धिजीवियों को पुन-पुनकर सम्मानित करना अपनी कूटनीति का अंग बना लिया। इसका उन्हें मनोवांछित फल मिला। सिक्ख बुद्धिजीवी भी अलगाववाद से मिलती-जुलती भाषा बोलने लगे। इस स्थिति का भरपूर लाभ उठाया जरनैलसिंह भिण्डरावाले ने। उसने अपने आपको सिक्खों का सर्वोच्च गुरु घोषित कर दिया। कुछ ने इस घोषणा को सहर्ष स्वीकार किया और शेष सिक्खों ने, अनेक सिक्ख धार्मिक नेताओं ने भी, इस विषय पर पूर्ण मौन साध कर इस घोषणा को मौन स्वीकृति दे दी।

पाकिस्तान को यह सफलता लन्दन स्थित पाकिस्तानी दूतावास के अथक प्रयत्नों से मिली। वहाँ एक "खालिस्तानी" सेल कार्यरत है जिसमें पाँच ब्रिगेडियर रैंक के पाकिस्तानी अधिकारी नकली "पंचप्यारों" की भूमिका निभा रहे हैं। उनकी जबरदस्त सहायता की है सिंह सभा गुरुद्वारा, हेवलाक रोड, लन्दन ने। यह गुरुद्वारा भारत के बाहर सिक्खों का दूसरा हरमिन्दर साहब कहा जाता है। पिछले सात वर्षों में इस गुरुद्वारे में भारतीय दूतावास का एक भी कर्मचारी प्रवेश नहीं पा सका। किन्तु पाकिस्तानी दूतावास के कर्मचारी आसानी से उसमें आते-जाते रहे हैं। इतना ही नहीं, इस गुरुद्वारे में अनेकों पाकिस्तानी नेताओं को सरोपे भेंट किये गये हैं।

पाकिस्तान की सफलता का दूसरा माध्यम बना प्रेस। "खालिस्तान" की माँग करने के लिए पाकिस्तान ने उन तीनों प्रमुख अखबारों पर कब्जा कर रखा है, जो इंग्लैण्ड में रहने वाले सिक्ख पढ़ते हैं। वे अखबार हैं "देश प्रदेश, वतन, और जंग"। पाकिस्तान का तीसरा लक्ष्य रहा है—इण्डियन वर्कर्स एसोसियेशन। इसके अध्यक्ष के चुनाव में पाकिस्तान अनाधिकृत रुचि लेता रहा है और रुपये खर्च करता रहा है।

पाकिस्तान का चौथा तरीका रहा है आतंकवाद को प्रोत्साहित करना। अन्तर्राष्ट्रीयता के साधारण सर्वमान्य आरम्भिक सिद्धान्तों की भी अवहेलना करके पाकिस्तान ने विमान अपहरण जैसी अमानवीय हरकतों को बढ़ावा दिया। अपहरणकर्ताओं को शस्त्र दिये। वे शस्त्र पाकिस्तान ने जर्मनी से खरीदे थे, इन्टरपोल ने यह राज फाश किया और एक अमेरिकी यात्री ने बताया, कैसे पाकिस्तान ने अपहरणकर्ताओं को शस्त्र दिये। कुछ उग्रवादियों ने स्वीकार किया है कि उन्हें पाकिस्तान में ट्रेनिंग दी गयी।

पाकिस्तान और ब्रिटेन ने जो अनुचित, अनैतिक सुविधाएँ खालिस्तानियों को दीं उनसे उनका दुस्साहस बढ़ा। दो उग्रवादियों ने प्रधानमन्त्री श्रीमती इन्दिरा गांधी की हत्या की। इस हत्या से भारतीयों में भयानक रोष उपजा। कुछ निरपराध सिक्खों की हत्या करके उन्होंने उसी आतंकवाद को बल दिया जिसे बहके हुए कुछ सिक्ख बल दे रहे थे। लेकिन उसके बाद भारत ने अपूर्व धैर्य और संयम का परिचय देकर उन देशों को निराश कर दिया जो भारत को हिंसाग्रस्त देखना चाहते थे, जो भारत का विभाजन चाहते थे। आतंकवाद से भयभीत सिक्खों को शरण देकर, अपनी जान को खतरे में डाल, अनेक हिन्दुओं ने सिद्ध कर दिया कि जो एकता धर्म के सत्य स्वरूप से जन्म लेती है उसे कोई षड्यन्त्र नष्ट नहीं कर सकता। □

"हिन्दू मेले" और उसके नेताओं देवेन्द्रनाथ टैगोर, राजनारायण बोस, नवगोपाल मित्र का उद्देश्य हिन्दुओं को एक धार्मिक राष्ट्र के रूप में संगठित करना था। उधर आर्य समाज पूर्णतया मुसलमानों के विरुद्ध था। हिन्दुओं के इस उत्साह ने मुसलमानों में अलगाववाद, भय और सन्देह के बीज बो दिये। किन्तु हिन्दुओं का यह हिन्दूवादी उत्साह कुछ ही वर्षों तक रहा। शीघ्र ही लोकमान्य तिलक, विवेकानन्द, सुरेन्द्रनाथ बनर्जी जैसे नेताओं ने बागडोर संभाल ली जिन्होंने हिन्दू मुसलमान सबके समान नवोदय की बात की और उन्हें समान रूप से भारतीय कहा।

यह इस नवजागरण का दुर्भाग्य रहा कि अलगाववाद के जो बीज मुसलमानों के मन में आरम्भ में ही पड़ गये थे, वे हिन्दू नेताओं की एकता समर्थक समस्त चेष्टाओं के बावजूद बढ़ते ही गये। गांधी, सुभाष, नेहरू, गफ्फार खान, मौलाना आजाद की एकता के लिए कोई भी दलील मुसलमानों का मन न जीत सकी। इसके विपरीत सैयद अहमद खाँ और जिन्ना के अलगाववादी विचार ही मुसलमानों को प्रिय होते चले गये। यह सच है कि अंग्रेजों के आने से सबसे अधिक हानि मुसलमानों को हुई थी। अंग्रेजों से पहले वे भारत के शासक थे और वह युग प्रजातन्त्र का युग नहीं था। बादशाहों का युग था। 1896 में कांग्रेस के कलकत्ता अधिवेशन में अध्यक्ष की हैसियत से बोलते हुए मुस्लिम नेता आर० एम० सयानी ने इस हानि को स्पष्ट किया था—"मुस्लिम शासन में बादशाह, समस्त उच्च सरकारी अधिकारी और जमींदार सबके सब मुसलमान थे। जिन्दगी के सारे सुख मुसलमानों को मुहैया थे। हिन्दू उनसे भयभीत रहते थे। मुसलमानों के ये सारे सुख अंग्रेजों ने आकर छीन लिये। उन्होंने मुसलमानों को भी उसी स्तर पर लाकर रख दिया जिस स्तर पर हिन्दू थे। मुसलमानों से सल्तनत छीनकर अंग्रेजों ने उन्हें हिन्दुओं के बराबर कर दिया। मुसलमानों के बराबर हो जाने से हिन्दुओं का स्तर बढ़ गया। वे हिन्दू जो मुसलमानों के आगे थर-थर काँपते थे अब सलाम भी नहीं करते। मुसलमानों को इससे तकलीफ पहुँचती है। इतना ही नहीं अंग्रेजों ने अंग्रेजी शिक्षा भी हिन्दुस्तान में शुरू कर दी। हिन्दुओं को तो आदत थी विदेशी भाषा सीखने की क्योंकि मुस्लिम शासन में वे फारसी और अरबी सीखते थे। अतः अंग्रेजी पढ़कर वे मुसलमानों से आगे बढ़ गये। लेकिन मुसलमानों को विदेशी भाषा सीखने की आदत नहीं थी। दूसरे, वे हिन्दुओं का मुकाबला नहीं करना चाहते थे क्योंकि हिन्दू उनके सेवक रहे थे। इस प्रकार मुसलमान जो शिक्षा में हिन्दुओं से आगे थे, अंग्रेजों की नीति के कारण पिछड़ गये। इससे हिन्दुओं को बहुत खुशी हुई और यह सन्ताप मुसलमानों के दिलों में है। अंग्रेजों की नीति ने मुसलमानों को एकदम गरीब बना दिया। इस कारण मुसलमान किसी भी क्षेत्र में हिन्दुओं के सम्पर्क में नहीं आना चाहते।"

स्पष्ट है कि मुसलमानों की अप्रसन्नता का निदान हिन्दुओं के पास नहीं था। यह अप्रसन्नता तभी दूर हो सकती थी जब इतिहास अपने कदम पीछे हटाता और अंग्रेज सत्ता मुसलमानों को सौंपकर वापस चले जाते। राष्ट्रीय एकता के लिए जिस वस्तु की सर्वाधिक आवश्यकता थी और जिसका सर्वथा अभाव रहा वह थी मुस्लिम भावनाओं का विवेकीकरण। मुस्लिम नेता यह कर सकते थे यदि वे समुदाय की भावनाओं में न बहकर पूर्ण परिस्थिति का निष्पक्षता से विश्लेषण करते। यह सच है कि मुसलमानों को जो विशेष अधिकार मुस्लिम शासन में प्राप्त थे वे समाप्त हो गये थे। किन्तु यह भी सच है कि उन अधिकारों का कोई तर्कयुक्त आधार नहीं था। वे अधिकार स्वार्थ, सत्तामद और अन्याय के द्योतक थे। इस्लाम ऐसे अधिकारों को मान्यता नहीं देता। इस्लाम सभी मनुष्यों को समान रूप से ईश्वर की सन्तान मानता है। इस्लाम मनुष्यों के बीच समानता, भाईचारे और न्याय पर आधारित है। यदि निष्पक्ष हो मुस्लिम नेता कुरान के प्रकाश में परिस्थितियों का विश्लेषण करते तो वे अवश्य ही मुस्लिम समुदाय की अप्रसन्नता को दूर कर सकते थे। उन्हें रंज पिछड़ेपन और निष्क्रियता की दल-दल से निकाल कर, उपलब्ध अवसरों का उपयोग कर, हिन्दुओं के समान प्रगति करने को प्रेरित कर सकते थे। ऐसा नहीं कि मुसलमानों ने विदेशी भाषा सीखने में हमेशा अपना अपमान समझा हो। इसके विपरीत इस्लामी इतिहास बतलाता है कि यूनानी सभ्यता के पतन के बाद यूनानी संस्कृति और ज्ञान के दीप को अरबियों ने प्रज्वलित रखा था। जब यूरोप मध्य युग के अंधेरे में डूब गया था, इब्न-उल-अरबी, इब्ने-सिना अवरोज ने पश्चिमी संस्कृति को मिटने से बचाया था और सुकरात, प्लेटो, अरस्तु की महान दार्शनिक परम्पराओं को आधुनिक यूरोप के युग-द्वार तक सुरक्षित पहुँचाया था।

सैकड़ों सालों के ऐशो-आराम और विदेशी धरती पर निरंकुश शासन ने मुसलमानों की ज्ञान और सत्य के प्रति उद्दिप्त पिपासा को बुझा दिया था। जिस मानवीय न्याय और प्रतिष्ठा के लिए हजरत मोहम्मद और हजरत अली ने संघर्ष किया था वे सिद्धान्त आराम और अत्याचार की जिन्दगी जीने के कारण मुस्लिम समुदाय को अप्रिय हो चले थे। यह मानवीय स्वभाव है कि वह धर्म के महान सिद्धान्तों के लिए अन्याय से अर्जित सुख-सुविधा को छोड़ना गवारा नहीं करता। आवश्यकता थी ऐसे निःस्वार्थ सच्चे इस्लामी नेताओं की जो फिर से हजरत मोहम्मद के सिद्धान्तों के जल से मुस्लिम समुदायों के आग्रह और अप्रसन्नता का प्रक्षालन करते।

अंग्रेजों के शासन ने हिन्दुओं को मुसलमानों के शासन से मुक्त किया था और उन्हें समान नागरिक का दर्जा दिया था जो उनका जन्मसिद्ध अधिकार था। उनके ही देश में सैकड़ों वर्षों तक उनके साथ गुलामों जैसा सलूक किया गया था। उनके

मन्दिर लाखों की संख्या में तोड़े गये थे, जबरदस्ती करोड़ों हिन्दुओं का धर्म परिवर्तन किया गया था। उनके गाने-बजाने, कीर्तन करने और तीर्थ यात्रा करने पर भी रोक थी। वे मन्दिर में घण्टे-घड़ियाल नहीं बजा सकते थे क्योंकि इससे मुसलमानों की भावनाओं को चोट लगती थी। हजरत मुहम्मद के अनुसार कहीं भी मानव यदि अत्याचार और अन्याय से मुक्त होता है तो वह हर मुसलमान के लिए प्रसन्नता का अवसर है। इस्लाम का यह महान आदर्श मुसलमानों का घाव भर सकता था। यह दुर्भाग्य रहा कि ऐसा कोई प्रयत्न नहीं किया गया। मुस्लिम समुदाय की तरह उनके नेता भी अन्याय और असमानता के आधार पर, गैर-इस्लामी उपायों से अर्जित वैभव और लूट को अपना अधिकार समझकर, अपने हृदयों में रंज पालते रहे। कुल पचास वर्षों में इस रंज का फायदा उठाकर अंग्रेजों ने बंगाल का विभाजन कर दिया। इसके बाद एक शस्त्र अंग्रेजों को मिल गया, इस रंज से इसे उकसाये रखने का। हिन्दू और मुसलमानों के बीच पड़ी इस दरार का अंग्रेजों ने जी खोलकर शोषण किया। एक ओर हिन्दुओं के महान अतीत का जिक्र कर उन्होंने उनके अभिमान को बढ़ाया और दूसरी ओर मुस्लिम नेताओं से गुप्त समझौते किये। डब्लू एस० ब्लण्ट ने इस नीति पर यों प्रकाश डाला है—"अंग्रेज एक मुसलमान के शब्दों को इतना महत्व देते हैं जितना बीस हिन्दुओं के शब्दों को भी नहीं देते। उन्हें हमेशा मुसलमानों से बगावत का खतरा है।"

हिन्दू-मुस्लिम एकता एक आकांक्षा रही, स्वतन्त्रता संग्राम में लगे सभी महान भारतीय नेताओं की। उनकी चेष्टाएँ फलप्रद नहीं हो सकीं। दोनों जातियों में अन्तर बढ़ता ही गया। उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में मुस्लिम समुदाय अपने को एक अलग जाति के रूप में ही नहीं बल्कि एक अलग राष्ट्र के रूप में देखने लगा था। इसके कई कारण थे जिनका निष्पक्ष विवेचन इस समस्या को समझने के लिए जरूरी है। हमें साम्प्रदायिक भावना से भी गहरी किसी भावना का स्रोत ढूंढ़ना होगा जो स्थायी एकता ला सके। जब समूचे समुदाय साम्प्रदायिकता के विष से ग्रस्त हों तो इसे केवल उन्माद कहकर निन्दित करना इसका हल ढूंढ़ना नहीं, इससे पलायन है। एक सुदृढ़ राष्ट्र की नींव सत्य की कठोर आधारशिला पर ही रखी जा सकती है, भावुकता के अविश्वसनीय जल पर नहीं।

शुरू में हिन्दू नेताओं के "हिन्दू" शब्द ने मुस्लिम समुदाय में भय और अविश्वास के बीज बो दिये थे। इस भय को सर सैयद अहमद खान ने 28 दिसम्बर 1887 को लखनऊ में मुसलमानों को सम्बोधित करते हुए खूब उकसाया—"अगर तुम चाहते हो कि देश बंगाली शासन के जुल्म सहे, अगर तुम बंगालियों के जूते चाटना चाहते हो तो कांग्रेस में मिल जाओ।" स्वयं गोखले ने महसूस किया था, जैसा डॉ० राजेन्द्र प्रसाद ने अपनी जीवनी में लिखा है, कि—"भारत के समस्त सात करोड़ मुसलमान राष्ट्रवादी भावनाओं के विरुद्ध हैं।"

बंगाल का यह राष्ट्रीय जागरण "हिन्दू जागरण" था, जन जागरण नहीं था। यह कुछ अंग्रेजी पढ़े-लिखे बंगालियों का जागरण था जो अंग्रेजी विचारों से अचम्भित थे और अपनी हिन्दू आत्मा में उन विचारों को पूरी तरह पचा नहीं पाये थे। हिन्दू समुदाय उनके साथ था लेकिन जैसे भेड़ें चरवाहे के साथ होती हैं। हिन्दू समुदाय और उन नेताओं के बीच कोई बौद्धिक सम्बन्ध नहीं था। उन्होंने हिन्दू समुदाय को हिन्दुओं के महान अतीत और गौरवशाली सांस्कृतिक सम्पदा पर गर्व करना तो सिखा दिया था किन्तु उनके जातिवाद, वर्गवाद, प्रान्तीयता, भाषावाद, अस्पृश्यता आदि कुरीतियों को दूर करने की कोई चेष्टा नहीं की थी। जिन विचारों को वे अभिव्यक्त कर रहे थे वे महान थे और हिन्दू समुदाय उनको अपना आदर्श मानता था किन्तु वे विचार हिन्दू समुदाय के नहीं थे। इस तरह यह जागरण स्वप्न-द्रष्टाओं का जागरण था, यथार्थ की कठोर भूमि पर चलने वालों का नहीं। यथार्थ में दोनों समुदाय दो सुप्त ज्वालामुखियों की तरह पास-पास रह रहे थे। दोनों के बीच सामाजिक दूरियाँ उतनी की उतनी थीं। हिन्दू अभिमान और अपनी जाति की पवित्रता का बोध इतना उग्र था कि मुसलमान का छुआ खाना तो दूर हिन्दू उनके नल से पानी पीना भी पसन्द नहीं करते थे।

उन नेताओं के भाषण में ओज था किन्तु इस सामाजिक दूरी को पाटने की कोई योजना नहीं थी। तिलक के आगमन ने नेतृत्व का रूप बदल दिया। उनसे पूर्व के नेता वक्ता थे। तिलक मुख्यतः एक कर्मयोगी थे। तिलक के साथ नेतृत्व वक्ताओं से छिनकर कर्मयोगियों और शहीदों के हाथों में चला गया। किन्तु तब तक बहुत देर हो चुकी थी। सर सैयद अहमद खान के नेतृत्व में मुसलमानों में अपने को एक पृथक् राष्ट्र समझने के संस्कार दृढ़ हो चुके थे। वे यह मानने लगे थे कि कांग्रेस का आन्दोलन सिर्फ हिन्दुओं का आन्दोलन है और यदि कांग्रेस सफल हो गयी तो हिन्दू राज आ जायेगा जो अंग्रेजी राज से भी खतरनाक होगा। हिन्दू गिन-गिन कर बदला लेंगे। भारत में जितने भी मुस्लिम आन्दोलन चले, चाहे वह "बहावी आन्दोलन" रहा हो या "अलीगढ़ आन्दोलन", वे सब इस्लाम और मुसलमानों के लिए थे। वे सब प्रजातन्त्र के विरुद्ध थे। प्रजातन्त्र को मुसलमान अपने लिए विनाशकारी मानते थे। उनकी संख्या हिन्दुओं की अपेक्षा कम थी और उनका ख्याल था कि प्रजातन्त्र की आड़ में हिन्दू उनको मूर्ख बनाना चाहते हैं। उनके ये विचार अंग्रेजों को बहुत भाये क्योंकि उनको उभारकर वे भारत के परस्पर विभक्त समुदायों को थोड़ा-थोड़ा और दूर कर सकते थे।

"मुस्लिम जागरण" अलीगढ़ कालेज की स्थापना के बाद उभरा और हिन्दू जागरण से 50 साल पिछड़ गया। मुस्लिम जागरण में एक खूबी थी जो हिन्दू जागरण में नहीं थी। यह पूरी तरह जन जागरण था। मुस्लिम नेताओं के बौद्धिक विचार और मुस्लिम समुदाय के विचार एक थे। मुस्लिम नेता उन्हीं भावनाओं

को विचारों का रूप दे रहे थे जो मुस्लिम समुदाय में था। इस प्रकार मुस्लिम जागरण साधारण मुसलमानों का जागरण था। यह जागरण किसी मानवीय आदर्श के लिए नहीं था। यह आदर्शवादी जागरण नहीं था। यह राजनैतिक, व्यावहारिक और स्वार्थ प्रेरित जागरण था। यह जागरण हर उस माँग का विरोध करता रहा जिससे मुसलमानों के संकीर्ण स्वार्थ की पूर्ति नहीं होती थी।

दादाभाई नौरोजी ने 1886 के आसपास बहुत संघर्ष किया था कि आई० सी० एस० का परीक्षा केन्द्र भारत भी बने। उन्हें बहुत आघात पहुँचा था यह सुनकर कि सब मुसलमान, उनके परम मित्र काजी बदरुदीन साहबुदीन भी, इस प्रस्ताव का जी-जान से विरोध कर रहे थे। इस विरोध का एक मात्र कारण यह था कि इस अवसर का लाभ हिन्दू ले जायेंगे। दादाभाई नौरोजी ने दुःख से भरे ये शब्द लन्दन से 15 जुलाई 1887 को अपने मित्र काजी बदरूदीन को लिखे थे : "तुम्हारा विरोध स्वार्थ पर आधारित है। यह अजीब दलील रही कि क्योंकि मुसलमान पिछड़े हुए है इसलिए तुम हिन्दुओं को और भारत को आगे नही बढ़ने दोगे।"

कुछ इतिहासकारों का मत है कि एक राष्ट्रीयता के सिद्धान्त का विरोध मुसलमानों की हठधर्मिता का परिणाम था। उनकी मानसिकता का विकास सत्य के आलोक में नहीं हुआ था। मानव जाति के सामूहिक उत्थान को उन्होंने कभी अपना उद्देश्य नहीं बनाया था। अतः एकता का आदर्श उन्हें प्रेरित नहीं कर सकता था।

इस आरोप के समर्थन में इतिहासकारों का तर्क है कि मुसलमानों के आगमन के बाद भारत में कभी हिन्दुओं का राज्य नहीं रहा था, हमेशा मुसलमान ही शासन करते रहे। मुसलमानों को कतई अनुभव नहीं था कि हिन्दू शासन में उनके साथ कैसा सलूक होगा। फिर भी बिना प्रमाण के अधिकांश मुस्लिम नेता यही कहते रहे कि हिन्दू शासन उन्हें कुचल देगा। सर सैयद अहमद खान ने 16 मार्च 1883 को मीरात में भाषण दिया था—"हिन्दू और मुसलमान दो अलग-अलग राष्ट्र है। अलग-अलग राष्ट्र ही नहीं बल्कि ऐसे दो राष्ट्र है जो हरदम एक-दूसरे से लड़ रहे है। अगर अंग्रेज चले गये तो क्या होगा? इनमें से एक-दूसरे को हरा देगा। कुचल देगा। ये मिलकर रह ही नहीं सकते।" यही भाव सर सैयद से लेकर अमीर अली, मौलवी समीउल्ला, मौलवी अहमद, अब्दुल लतीफ, मुहम्मद युसूफ और जमालुद्दीन-अल-अफगानी आदि प्रमुख मुस्लिम नेताओं के रहे। उन्हें हिन्दुओं से बदले का भय रहा। इस भय को भय के रूप में स्वीकार करते हुए उन्हें लज्जा का अनुभव होता था। अतः यह भय भड़काने वाले साम्प्रदायिक भाषणों के रूप में व्यक्त होता था। कोई भी जाति यह स्वीकार करना अपमान समझती है कि उसे किसी दूसरी जाति से भय है। वह हमेशा भय की भावना को क्रोध और

गर्व में बदलने की इच्छुक रहती है। नेताओं ने मुस्लिम समुदाय की इस कमजोरी को खूब पोषित किया।

कुछ मुस्लिम नेता थे बदरुद्दीन तैयब जी, रहीमतुल्ला सयानी, मौलवी मजहर-उल-हक जो हिन्दू-मुस्लिम एकता और एक राष्ट्र के उद्घोषक थे। तैयब जी ने एक स्वाभाविक प्रश्न मुसलमानों से अपनी पुस्तक "मुस्लिम लीग" में पूछा भी : "मुसलमानों को भय है कि हिन्दू बहुमत उनके साथ अन्याय करेगा। किन्तु मैं पूछता हूँ कि विगत पच्चीस वर्षों में कांग्रेस ने एक भी ऐसा प्रस्ताव पास किया जो हिन्दुओं के हित में हो और मुसलमानों का अहित करता हो ?" परन्तु इन बातों का मुसलमानों पर कोई असर नहीं हुआ।

आगाखान ने अपनी पुस्तक "इण्डिया इन ट्रांजिशन" में इस भय पर निम्न शब्दों में प्रकाश डाला है : "भारतीय मुसलमान अपने को भारतीयों का अंग नहीं बल्कि विश्व के मुस्लिम समाज का अंग समझता है। स्वराज की अपेक्षा वह अंग्रेजों के शासन को पसन्द करता है। अंग्रेजों का शासन निष्पक्ष है जबकि स्वराज के मायने होंगे हिन्दू शासन।"

बिना हिन्दू बहुमत का शासन देखे उसे मुसलमानों के प्रति दमनकारी मान लेने का कारण सम्भवतः मुसलमानों का अपना दमनकारी इतिहास रहा हो। उस परिप्रेक्ष्य में स्वाभाविक था कि वे इस कल्पना से भय त्रस्त होते कि हिन्दू शासन में उन समस्त जुल्मों का बदला लिया जायेगा।

महात्मा गांधी और पण्डित नेहरू ने कितने ही विवादित मामलो को निपटाने के लिए हिन्दुओं की इच्छाओ का बलिदान किया। 1887 में मद्रास में हुए कांग्रेस अधिवेशन में एक मेम्बर ने गौहत्या निषेध के पक्ष मे एक प्रस्ताव रखने का प्रस्ताव किया। गौहत्या एक ऐसा विषय है जिस पर हिन्दू समुदाय की भावनाएँ तेजी से भड़कती हैं। किन्तु इसकी चिन्ता न करते हुए कांग्रेस के नेताओं ने यह प्रस्ताव नहीं रखने दिया सिर्फ इसलिए कि जो मुसलमान गौहत्या के पक्ष में है वे इस प्रस्ताव से बुरा मान जायेंगे। कांग्रेस हर कीमत पर हिन्दू-मुस्लिम एकता चाहती थी। भारत का विभाजन न हो उसके लिए प्रजातान्त्रिक सीमाओं के अन्तर्गत मुसलमानों को हर सम्भव छूट देने के लिए कांग्रेस तैयार थी। संयुक्त भारत का प्रधानमन्त्री नेहरू को न बनाकर जिन्ना को बनाने के लिए भी गांधी जी तैयार थे।

लेकिन कांग्रेस साम्प्रदायिक प्रश्न पर शुरू से गलती करती रही। वह भूल गयी कि विशेष रियायतें अल्पमत के सन्देहों को भड़काती हैं। कांग्रेस की दूसरी गलती, आई० सी० मजूमदार के शब्दों में, यह थी कि कांग्रेस के नेताओं ने कभी यह मानकर नही दिया कि मुसलमान कांग्रेस के खिलाफ हैं। अपनी नेकनियती और राष्ट्रीयता के जोश में वे पाकिस्तान बनने तक यही समझते रहे कि

अधिकांश मुसलमान कांग्रेस के साथ हैं। अगर उन्होंने इस भयानक सत्य को स्वीकार कर लिया होता, जो सिवाय उनके सबको दिख रहा था, वे अपनी नीति बदलते और राष्ट्रीय एकता के लिए कुछ नये रास्ते सोचते।

मुस्लिम नेता खुलकर भारत में प्रजातान्त्रिक संस्थाओं का विरोध करते रहे। कांग्रेस जानती थी कि केवल प्रजातन्त्र ही स्वराज्य के बाद एक ऐसी व्यवस्था हो सकती है जो भारत के सभी वर्गों और जातियों को संगठित रख सकें। सर सैयद ने स्पष्ट कहा था कि "प्रजातन्त्र भारत के मुसलमानों के लिए अनुपयुक्त है और यदि भारत में प्रजातन्त्र की स्थापना हुई तो मुसलमानों को तलवार उठानी पड़ेगी।" ये विचार मुस्लिम नेता एक बार नहीं सैकड़ों बार व्यक्त कर चुके थे। जब उन्हें प्रजातन्त्र ही स्वीकार नहीं था तो किसी हिन्दू को राजा के रूप में स्वीकार करने का तो प्रश्न ही नहीं उठता। वे चाहते थे कि अंग्रेजी शासन चलता रहे या भारत का राज जो मुसलमानों से लिया गया था उन्हें ही लौटा दिया जाये। इस सत्य को स्वीकार करने से कांग्रेसी नेता कतराते रहे। साम्प्रदायिकता के दानव के बाल पकड़कर साहस और सत्य के साथ कभी उसका सामना नहीं किया गया।

इस दौरान प्रजातन्त्र के सिद्धान्त के साथ एक मौलिक मजाक मुस्लिम नेताओं ने किया। किन्तु तब भी कांग्रेस के नेता यह मानने को तैयार नहीं हुए कि प्रजातन्त्र और एक राष्ट्रीयता के नारे मुसलमानों को मूलतः नापसन्द हैं। यह मजाक यों था: 1896 में हाजी मुहम्मद इस्माईल खान ने कांग्रेस सभापति से एक प्रस्ताव पास करने का अनुरोध किया जिसके द्वारा हिन्दुओं और मुसलमानों की बराबर-बराबर सीटें हों प्रान्तीय एसेम्बिलियों में, जिला परिषदों और नगर-पालिकाओं में। सर सैयद अहमद खान ने कहा कि यदि कांग्रेस यह प्रस्ताव पास कर देती है तो मुसलमान कांग्रेस में शामिल हो जायेंगे। कतिपय आधुनिक इतिहासकारों और मनोवैज्ञानिकों का मत है कि साम्प्रदायिक विवाद विशेष रियायतें देने और मनाने की नीति से और मजबूत होते हैं। ये विवाद अधिकतर एक-दूसरे के प्रति गलतफहमी या काल्पनिक भयों पर आधारित होते हैं। इनके समाधान का तरीका है जन मस्तिष्क के समक्ष कटु यथार्थ रखना, इन विवादों से भविष्य में क्या-क्या हानियाँ हो सकती हैं उनको खुलकर प्रस्तुत करना और विशाल पैमाने पर जनता को इस समस्या पर सोचने के लिए मजबूर करना। ☐

साम्प्रदायिक प्रश्न और अंग्रेज नीति

अंग्रेजों का रवैया साम्प्रदायिक समस्या पर वही रहा जो किसी भी जाति का होता। जिसका इरादा हजारों मील दूर से समुद्र पार भारत पर शासन करने का था। एक विदेशी ताकत उत्थान करने की दार्शनिक नीयत से किसी देश में नहीं घुसती। उसका उद्देश्य होता है धनोपार्जन और अपने स्वार्थ की पूर्ति। अंग्रेज इसे अपना कर्तव्य नहीं मानते थे कि भारतीयों का नैतिक और बौद्धिक स्तर उठाएँ और उन्हें विश्व की एक महान जाति बनने में मदद दें। उनका हित इसी में था कि दोनों सम्प्रदाय लड़ते रहें लेकिन इतना न लड़ें कि अंग्रेजों की शासन क्षमता में से ही भारतीयों का विश्वास उठ जाए।

1857 के बाद शुरू के बीस वर्षों तक अंग्रेजों ने हिन्दुओं को बढ़ावा दिया क्योंकि उनका ख्याल था कि 1857 के विद्रोह के पीछे मुसलमान थे। वे हिन्दुओं से प्रसन्न थे क्योंकि उन्होंने उनका स्वागत किया था।

किन्तु हिन्दुओं की बढ़ती राजनैतिक चेतना और राष्ट्रीय भावना शीघ्र ही अंग्रेजों को एक गम्भीर खतरा लगने लगी। पर रोक लगाना जरूरी हो गया। मुसलमानों ने ब्रिटिश साम्राज्य का विरोध करना छोड़ दिया था और उनमें राष्ट्रीय भावना का अभाव था। उन्हें हिन्दुओं पर रोक लगाने के लिए इस्तेमाल किया जा सकता था। सर सैयद अहमद के नेतृत्व में मुसलमान इस काम के लिए तैयार थे। इस नीति को व्यावहारिक रूप देने का सेहरा सेक्रेटरी आफ स्टेट लार्ड क्रास और वायसराय लार्ड डफरिन के सर रहा। 1857 के विद्रोह के तुरन्त बाद अंग्रेज प्रशासक यह सुझाने लगे थे कि भारत के लिए सर्वश्रेष्ठ नीति है—"फूट डालो और शासन करो।" लेफ्टिनेण्ट जान कोक, मुरादाबाद के कमाण्डेण्ट ने तभी लिखा था : "हमें इस धार्मिक वैमनस्य को बढ़ाने की चेष्टा करनी चाहिए। हमें विभिन्न सम्प्रदायों में एकता स्थापित करने की चेष्टा हर्गिज नहीं करनी चाहिए। फूट डालो और शासन करो —यह आदर्श था प्राचीन रोमवासियों का और यही आदर्श हमारा भी होना चाहिए।" इस नीति की सफलता और सम्भावनाओं पर सर जान सीले ने लिखा था : "1857 के विद्रोह को हम तभी दबा

पाये जब हमने भारत की विभिन्न जातियों को आपस में लड़ा दिया। जब तक हम ऐसा करने में सफल होते रहेंगे तब तक हम इन पर इंग्लैण्ड की हुकूमत कर सकेंगे। लेकिन किसी दिन अगर ये जातियाँ एक हो गयीं तो उस दिन डरने की बजाय हमें यह आशा ही छोड़ देनी चाहिए कि भारत में ब्रिटिश राज रहेगा।"

सर जान की यह राय बहुत कूटनैतिक सूझबूझ से भरी हुई थी। कहना न होगा कि ब्रिटिश जाति ने इसी के अनुसार कार्य किया। भय से प्रेरित होकर शासन करने की बजाय उसने भयानक स्थिति देखते ही भारत छोड़ दिया।

1858 में सर सैयद अहमद ने अपनी पुस्तक 'काजेज आफ इण्डियन रिवोल्ट, में लिखा था : "अगर अंग्रेजों ने हिन्दुओं और मुसलमानों की एक रेजीमेण्ट न बनायी होती तो कभी भी 1857 का गदर न होता। अगर दोनों की अलग-अलग रेजीमेण्ट बनायी होती तो उनमें भाईचारे की वह भावना जन्म न लेती जिसने गदर को जन्म दिया।" सर जान लारेन्स ने इस राय की उपयोगिता को समझा। इसके बाद अंग्रेजों ने जातियों के नाम से रेजिमेण्ट बनानी शुरू कर दी।

14 जनवरी 1857 को सेक्रेटरी आफ स्टेट लार्ड क्रास ने वायसराय लार्ड डफरिन को लिखा कि "हिन्दुओं और मुसलमानों के मतभेद हमारे फायदे की चीज है।" डफरिन को पर्याप्त संकेत मिल गया था। उसके बाद उसने अपने फूट डालने वाले भाषणों में ब्रिटिश संयम और चतुराई का कुशल प्रयोग किया। उसका जोश बढ़ता गया और वायसराय के पद की नैतिक जिम्मेदारी का भी अतिक्रमण कर गया। उसने खुलकर मुसलमानों को विभाजन का नारा दिया—"भारत के पाँच करोड़ मुसलमान अपने में एक अलग राष्ट्र है और उनका यह राष्ट्र बहुत बलवान राष्ट्र है।" लार्ड सेलिसबरी ने, उन्हीं दिनों जब हजारों मुसलमान ब्रिटिश सरकार की साजिश से मारिसस आदि विदेशों में अंग्रेजी फार्मों पर गुलामों की तरह काम करने के लिए ले जाये जा रहे थे, साम्राज्यवादी दया और सहानुभूति का एक विलक्षण नमूना प्रस्तुत किया। उन्होंने कहा, "भारत के मुसलमानों को हम कैसे हिन्दुओं के रहमों करम पर छोड़ दें?"

अंग्रेजों ने एक मौलिक राजनीति का सुर भारत में छेड़ा था। उन्होंने सिखाया था नैतिक सिद्धान्तों का राजनैतिक उपयोग करना। उन्होंने धार्मिक मुस्लिम शासन की जगह (नैतिक) इंगलिश शासन दिया। धार्मिक शासन धर्म के नाम पर जनता में भय प्रेरित करता था। नैतिक अंग्रेज शासन नैतिकता (Ethics) के नाम पर जनता में भय प्रेरित करने लगा। दोनों का उद्देश्य एक ही था—भय प्रेरित करना। भय से प्रेरित जनता स्वयं ही शासन के आगे पूर्ण आत्म-समर्पण कर देती है। अंग्रेजी शासन ने जिस नैतिक राजनीति का प्रयोग किया था वह धार्मिक राजनीति से कहीं अधिक सबल थी। धार्मिक राजनीति तो विरोध भड़का देती थी किन्तु नैतिक राजनीति का विरोध असम्भव था। कांग्रेस भी

आरम्भ के कई दशकों तक इस भ्रम में रही कि चाहे और कोई भी कमी हो लेकिन यह निर्विवाद है कि अंग्रेज शासक अत्यन्त न्यायप्रिय, सत्यनिष्ठ और नैतिक दृष्टि से उद्दात्त चरित्र वाले होते हैं। सर सैयद ने 15 अक्टूबर 1869 को लन्दन से एक पत्र में लिखा था: "अंग्रेजों की सत्यनिष्ठा और ईमानदारी के मुकाबले में भारतीय गन्दे जानवर जैसे लगते हैं।"

अंग्रेजों की इस नैतिक राजनीति का पर्दाफाश वही व्यक्ति कर सकता था जिसकी नैतिकता और सत्यनिष्ठा राजनैतिक उद्देश्यों की पूर्ति के लिए पतित नहीं हुई थी, नकाब नहीं बनी थी। सौभाग्य से भारत को महात्मा गांधी में एक ऐसा नेता मिल गया जो नैतिकता के चरम शिखर पर बैठकर राजनीति को परख रहा था। अंग्रेजों ने जाना था कि भारत के महान नैतिक लोग विरक्ति और संन्यास का मार्ग अपना लेते हैं। किन्तु गांधी एक विचित्र पुरुष था।

गांधी ने दुनिया को दिखा दिया कि अंग्रेजों की तथाकथित नैतिकता क्या है—केवल एक साम्राज्यवादी नकाब, एक अत्यन्त नीच कोटि की हवस, जो नैतिक मूल्यों का भी शोषण निर्लज्जता से कर लेती है। गांधी ने दर्शाया कि अंग्रेज को न न्यायप्रिय है, न मानवीय मूल्य। वह इनका ढोंग किये हुए है जिससे धार्मिक मतान्ध शासकों द्वारा कुचली भारत की जनता उनकी हवस न देख सके और उनसे डरती रहे। असहयोग, अहिंसा और सत्याग्रह का मार्ग अपनाकर महात्मा गांधी ने अंग्रेज धैर्य का बांध तुड़वा दिया। उसका टूटना था कि आवेश और आक्रोश की गर्मी में अंग्रेजों के चेहरों से नैतिकता की नकाब हट गयी। नृशंस दरिन्दों की तरह उन्होंने निहत्थे शान्तिपूर्वक स्वतन्त्रता की मांग करने वाले भारतीयों पर गोलियां चलायीं, जुल्म किये और फिर अदालतों में न्याय के नाटक किये। महिलाओं का सम्मान करने वाली जाति कहकर उन्होंने अपने को भारतीयों की नजरों में श्रेष्ठ स्थान दिला रखा था। अहिंसक, श्वेतखादी में लिपटी महिलाओं पर ब्रिटिश सरकार का कहर बरसाकर उन्होंने ये सारे दावे झूठे साबित कर दिये। दुनिया जान गयी कि अंग्रेज नैतिकता एक ढोंग है, एक राजनीति है।

गांधी ने अचम्भित यूरोप और अमेरिका को बताया कि जिसे गोरी जातियां अपनी महान नैतिकता बताकर काले लोगों से अपनी श्रेष्ठता का प्रमाण समझ रही थी वह नैतिकता नहीं थी बल्कि राजनैतिक दरिन्दे के नैतिक पंजे थे। गोरी जातियों पर उनका प्रहार इतना भीषण था कि उनका यह अडिग विश्वास कि वे अश्वेत लोगों से श्रेष्ठ हैं डिग गया। साम्राज्यवाद की जड़ों पर गांधी का यह सबसे तीखा प्रहार था।

इण्डियन काउंसिल एक्ट, 1892 में वायसराय डफरिन ने चोरी से एक खतरनाक प्राविधान जोड़ दिया। इसके अनुसार मुसलमानों को पृथक प्रतिनिधित्व मिल गया। यह ब्रिटिश अनैतिकता का एक ऐसा उदाहरण था जो

अकल्पनीय था। डा० अम्बेडकर के अनुसार, पृथक प्रतिनिधित्व का सिद्धान्त इण्डियन काउंसिल एक्ट का कोई भी एक्ट नहीं है। इस एक्ट को लागू करने के तरीकों की सूची में इसे छलपूर्वक जोड़ दिया गया था।

उच्च स्तरीय अंग्रेज शासकों की झूठी नैतिकता और मगरमच्छीय आंसुओं का एक प्रमाण सेक्रेटरी आफ स्टेट लार्ड हैमिलटन द्वारा भारत के वायसराय लार्ड एलगिन को 3 अक्टूबर 1895 को लिखा पत्र है। हैमिल्टन महोदय लिखते हैं : "धूलिया में जो हिन्दू-मुस्लिम दंगे हुए हैं उनमें स्पष्टतः मुसलमान गलती पर हैं। ये साम्प्रदायिक दंगे प्रशासकीय दृष्टि से दुखद घटनाएँ है। किन्तु ये भारत में अंग्रेजी राज को मजबूत करेंगे।"

सेक्रेटरी आफ स्टेट हैमिल्टन ने वायसराय एलगिन को 7 मई 1897 को स्पष्ट लिख दिया गया था—"भारतीयों में विचारों की एकता और सौहार्द हमारे लिए खतरनाक होंगे।" आर० सी० मजूमदार ने 'भारतीयों की संस्कृति और इतिहास' नामक पुस्तक में अनेक दृष्टान्त दिये है यह सिद्ध करने को कि ब्रिटिश नीति दंगों को साम्प्रदायिक सौहार्द के द्वारा समाप्त करने की नहीं थी। वे चाहते थे कि एक सम्प्रदाय दूसरे को आंतकित करके दबा दे और इस तरह दंगे समाप्त हों। इस तरह दबे दंगों के भविष्य में पुनः भड़क उठने की पूरी गुंजाइश रहती है।

1874 में बम्बई में मुस्लिम-पारसी दंगे हुए। बहुसंख्यक मुसलमानों ने अल्पसंख्यक पारसियों पर बहुत अत्याचार किये। पारसियों का एक प्रतिनिधि मण्डल गवर्नर से मिला तो गवर्नर ने उल्टे पारसियों को डांटा और कहा कि "खुद जाकर मुसलमानों से फैसला करो और आगे से अपनी रक्षा आप करो।"

इस ब्रिटिश नीति के परिणामस्वरूप 1874 के बाद भारत में साम्प्रदायिक दंगे जल्दी-जल्दी होने लगे। 8 जनवरी 1877 को सर सैयद अहमद ने अलीगढ़ में मुहमडन एंगलो-ओरिएण्टल कालेज की नींव लार्ड लिटन ने रखवायी। इसका पहला प्रिंसिपल थियोडोर बेक नाम का एक अंग्रेज था जो अलीगढ़ आन्दोलन के पितामहों में से एक बना। उसने मुस्लिम युवकों को अंग्रेजी की शिक्षा ही नहीं दी, उन्हें ब्रिटिश राज के प्रति वफादारी भी सिखायी। उन्हें यह भी सिखाया कि राष्ट्रवाद उनके लिए हानिकारक है और हिन्दुओं के साथ हर तरह का असहयोग ही केवल मुसलमानों की उन्नति करा सकता है। इस सुयोग्य अंग्रेज ने केवल प्रिंसिपलगिरि तक ही अपने को सीमित नहीं रखा। वह लेख पर लेख छापता गया और हर लेख का एक ही उद्देश्य था। वह था मुसलमानों को बताना कि भारत एक राष्ट्र नही दो राष्ट्र है, प्रजातन्त्र भारत के लिए अनुपयुक्त है, और यदि भारत को स्वराज्य मिल गया तो हिन्दू मुसलमानों पर ऐसा निरंकुश शासन करेंगे जिससे उनकी रूह भी कांपने लगेगी।

सैयद अहमद बेक से प्रसन्न थे। अतः यह पूछने की हिम्मत किसी की नहीं

हुई कि बेक एक प्रिंसिपल है या ब्रिटिश साम्राज्य का एजेण्ट। इससे बेक का हौसला बढ़ा और 30 दिसम्बर 1893 को उसने मुहमडन ऐंग्लो-ओरिएण्टल डिफेन्स एसोसियेशन की स्थापना कर डाली। इस संस्था के उद्देश्य थे—(1) राजनैतिक आन्दोलन को मुसलमानों में फैलने से रोकना, (2) भारत में ब्रिटिश राज को मजबूत करना, (3) भारत के मुसलमानों को अन्य भारतीयों से अलग करना। बेक ने जोरदार वकालत की—"मुसलमान अंग्रेजों से मैत्री कर सकते हैं लेकिन उन लोगों से मैत्री नहीं कर सकते जो शिवाजी और गुरु गोविन्द सिंह को अपना महापुरुष मानते हैं।"

बेक के सैयद अहमद पर बढ़ते असर को देखकर एक मुस्लिम लेखक ने फबती कसी थी—'कालेज है सैयद अहमद का, हुकुम है बेक का।' 1899 में बेक की मृत्यु पर सर आर्थर स्ट्रेची आई० सी० एस० ने कहा—"एक महान अंग्रेज था वह जिसने अपना जीवन लगा दिया ब्रिटिश राज को मजबूत करने में।" एक साम्राज्यवादी सत्ता द्वारा यह एक उचित सम्मान था एक प्रच्छन्न प्रिंसिपल का।

बेक के बाद दूसरा प्रिंसिपल भी इंग्लैण्ड से आया, मारीसन और उसने साम्राज्यवाद को, दो राष्ट्रों के विचार को और हिन्दू-मुस्लिम बैर के प्रसार को उसी निष्ठा के साथ अपने जीवन का ध्येय बनाया। आर० सी० मजूमदार लिखते हैं—"धन्यवाद है इन दोनों प्रिंसिपलों को! इनकी मेहनत से कांग्रेस का विरोध अलीगढ़ आन्दोलन का मुख्य उद्देश्य बन गया है। मुस्लिम समुदायों ने अलीगढ़, इलाहाबाद, लखनऊ, मेरठ, लाहौर, मद्रास आदि अनेक स्थानों पर जनसभाएँ करके कांग्रेस के विरुद्ध प्रस्ताव पास किये। लेकिन अटल थी कांग्रेस के नेताओं की आस्था जो इस बढ़ते जन-आन्दोलन में भी मुस्लिम जनता की आवाज नहीं पहचान रहे थे।"

भारत में अनेक जातियाँ हैं, अनेक संस्कृतियाँ हैं, अनेक धर्म हैं। भारत में आदिवासी हैं जिनका धर्म प्रागैतिहासिक पाषाण युगीन मनुष्यों के भयों, अन्धविश्वासों और मनौतियों से जन्य है। वैदिक धर्म की दृष्टि में उनका धर्म एक भावुक अनर्गल मात्र है जो अज्ञान और भय के संसर्ग से जन्म ले बैठा है। आदिवासियों के धर्म और वैदिक धर्म के बीच जितना अन्तर और वैपरीत्य है उसकी तुलना में वह अन्तर कुछ भी नहीं है जो इस्लाम और वैदिक धर्म के बीच है। किन्तु फिर भी ये सभी जातियाँ हजारों वर्षों से बाग में अनेकों किस्म के फूलों की तरह साथ-साथ खिल रही हैं। इसका एक प्रमुख कारण हिन्दू धर्म की सहिष्णुता ही नहीं वह मूल विश्वास है जो दूसरे पर हिन्दू धर्म लादने को भी पाप समझता है। हिन्दू धर्म का यह विश्वास है कि हर मनुष्य अपने आन्तरिक उजालों और अनुभवों के अनुसार अपना धर्म निर्धारित करता है और उसमें

हस्तक्षेप करना अधर्म है। इस विभिन्नता में एकता का मूल रहस्य रहा है यही कारण है कि जैन और बौद्ध धर्म भी, जो बहुत से विषयों पर, यहाँ तक कि 'वेदों' के मूल यज्ञ सम्बन्धी विश्वास पर भी, वैदिक धर्म के विपरीत हैं, निःशक हिन्दू धर्म के बराबर में खिलते रहे। वे धर्म भी जो भारत में बाहर से आये जैसे पारसियों का धर्म, यहूदी धर्म, बहावी धर्म, ईसाई धर्म आदि, अपनी भिन्न और विपरीत मान्यताओं से हिन्दू जाति को भड़का न सके। यह विचार हिन्दू जाति में कभी नहीं जगा कि ये जातियाँ अज्ञान के अन्धेरे में पड़ी हैं और इन्हें ज्ञान की रोशनी देना उनका कर्तव्य है। समस्त भारतीय धर्म परम्परा यही मानती है कि धर्म पहले स्वधर्म है। स्वधर्म का अर्थ है वह विश्वास जो उन व्यक्ति के व्यक्तिगत अनुभवों, बौद्धिक क्रियाओं, कल्पनाओं और सौन्दर्यानुभूति से जन्मा हो।

साम्प्रदायिक विद्वेषों के कारणों पर विचार करते हुए इस तथ्य को स्वीकार करना आवश्यक होगा कि भारत में जितने साम्प्रदायिक दंगे हुए उनमें सदैव इस्लाम एक पक्ष रहा चाहे वे हिन्दू-मुस्लिम दंगे रहे हों, चाहे मुस्लिम-पारसी दंगे रहे हों। इस तथ्य से यह न्यायिक सत्य प्रतिपादित होता है कि इन दंगों का कारण बहुमती हिन्दुओं की अपना धर्म दूसरों पर लादने की हठधर्मिता नहीं है। यह भी आरोप नहीं लगाया जा सकता है कि एक बड़ी मछली की तरह हिन्दू धर्म अल्पसंख्यक धर्मों को निगल रहा है और अपना अस्तित्व बचाये रखने के लिए उन्हें हिन्दू धर्म से लड़ना पड़ रहा है। यदि यह सत्य होता तो भारत में आदिवासियों, ईसाइयों, पारसियों तथा बहावी धर्म वालों के साथ हिन्दुओं के साम्प्रदायिक संघर्ष आये दिन हुआ करते।

साम्प्रदायिक संघर्षों के कारणों की रिपोर्ट पढ़ने पर यही निष्पक्ष निष्कर्ष निकलता है कि इन संघर्षों का अधिकांशतः मूल कारण मुस्लिम असहिष्णुता और अभिमान रहा है। मुस्लिम शासन में हिन्दू धर्म पर निरन्तर जो अंकुश लगाये गये उससे मुसलमानों की मानसिकता में एक गहरा परिवर्तन आ गया। वे यह समझने लगे कि हिन्दू जो अपने धर्म का पालन कर रहे हैं या तीर्थ के लिए आ-जा रहे हैं यह एक रियायत है जो बादशाह ने काफिरों को राजनैतिक कारणों से दे रखी है। इस इजाजत के मायने ये नहीं है कि हिन्दू यह भूल जाये कि उनके धर्म पालन से मुसलमानों की भावनाओं को चोट लगती है। अतः वह भूलकर भी मस्जिदों के आगे से अपने धार्मिक जलूस न निकाले। मुसलमानों ने हिन्दू धर्म को कभी एक धर्म नहीं समझा, उल्टे एक अधर्म समझा, एक कुफ्र समझा, जिसे मिटाना उन्होंने अपना धर्म समझा और बर्दास्त करना एक राजनैतिक मजबूरी।

ब्रिटिश शासन में उनकी यही मानसिकता उन पर हावी रही। इसके साथ आकर मिल गया एक भय जो आर्य समाज की शुद्धि नीति और हिन्दू और ईसाई धर्मों के समन्वयों, जैसे ब्रह्मसमाज और थियोसोफिकल सोसाइटी से उत्पन्न

हुआ। शुद्धि नीति से मुसलमानो को यह भय हुआ कि हिन्दू जो मुस्लिम शासन में मुसलमान बना दिये गये थे पुनः हिन्दू बन जायेंगे। इससे पहले यह भय नही था क्योंकि इससे पहले हिन्दू समाज ऐसे व्यक्तियों को जो मुसलमान बन गये हों पुनः हिन्दू बनाने के विरुद्ध था। ब्रह्मसमाज और थियोसोफिकल सोसाइटी इन विचारो का प्रतिपादन कर रहे थे कि हिन्दू और ईसाई धर्मों में एक ही सत्य है, एक ही विश्वास अन्तरनिहित है। इस चेष्टा के पीछे मुसलमानों को एक राज-नैतिक उद्देश्य नजर आया। भारत के नये शासक ईसाई थे। मुसलमानों को लगा कि हिन्दू-ईसाई शासकों से एक होकर मुसलमानों को अकेला और कमजोर कर देना चाहते है।

एक मनोवैज्ञानिक सत्य भी था। मुस्लिमों को अपने अत्याचार याद थे। उन्हें मालूम था कि किस तरह तलवार के बल पर उन्होंने करोड़ों हिन्दुओ का धर्म परिवर्तन कराया है और उनके मन्दिरों को तोड़ा और लूटा है। इस मनोवैज्ञानिक सत्य से भी एक भय, हर क्रिया के विरुद्ध समान प्रतिक्रिया, के सिद्धान्त के अनुसार जन्मा। यह भय था कि हिन्दू अवश्य ही उस दिन की प्रतीक्षा कर रहे है जब वे पुनर्गठित होकर मुसलमानों से उन अत्याचारों का बदल लेंगे।

इतिहास ने भयों और आशंकाओं को निराधार साबित कर दिया है। स्व-राज्य प्राप्ति के बाद भी हिन्दुओं ने ऐसा कुछ नही किया, किसी मन्दिर को जिसे जबरदस्ती मस्जिद बना दिया गया था फिर से मन्दिर बनाने की माँग नही की। न शुद्धि आन्दोलन चलाया। इस प्रकार हिन्दू और मुसलमान आज एक बेहतर मानसिक स्थिति में हैं। इन काल्पनिक भयों और शंकाओं को त्यागकर साम्प्रदा-यिक सद्भाव और एकता स्थापित कर सकने की स्थिति में है।

पाकिस्तान भारत के प्रजातन्त्र को तीन दशकों तक हिन्दू राज कहकर बद-नाम करने की चेष्टा करता रहा। वह एक बात भूल गया कि भारतीय प्रजातन्त्र को हिन्दू राज कहकर वह इसे एक परोक्ष सम्मान देता रहा है। यदि हिन्दू राज ऐसा होता है जहाँ बहुसंख्यकों की अपेक्षा अल्पसंख्यकों की भावनाओं का ध्यान अधिक रखा जाता है तो निःसन्देह प्रजातन्त्र और हिन्दू राज में कोई अन्तर नही है। भारत की सुदृढ़ और धर्म निरपेक्ष नीति और समान अधिकारों के सिद्धान्त का कायल अब पाकिस्तान भी हो गया है। श्रीमती इन्दिरा गांधी की हत्या पर पाकिस्तानी अखबारों और नेताओं ने एक नही अनेक बार यह कहा है कि "भारत की धर्म निरपेक्षता और भारतीय प्रजातन्त्र इतने सुदृढ़ हो चुके है कि नेताओं की हत्या करके उसे नहीं मिटाया जा सकता।"

आजादी के उन्तालीस वर्षों का अनुभव भारत के मुसलमानों और हिन्दुओं के पास है। इसने उन सभी भयों को निराधार सिद्ध कर दिया जो अंग्रेजों ने मुसलमानों को दिये थे ताकि वे कांग्रेस के खिलाफ रहें। उन्तालीस वर्षों की यह

महान धर्म निरपेक्ष प्रजातान्त्रिक परम्परा एक अमूल्य सम्पदा है जो उनके पास नहीं थी, जो आजादी की लड़ाई लड़ रहे थे। उनके पास पवित्र इरादे थे, सच्चे दिल थे पर सबूत नहीं था जिसके अभाव में मुस्लिम नेता उन्हें झूठा समझते रहे और विभाजन करने की जिद पर अडिग रहे। अब सबूत है जिसने पाकिस्तान को भी विश्वास दिला दिया है कि भारत धर्म निरपेक्ष है अगर इस अनुभव से बल लेकर सभी धर्मों के लोग एक धर्म निरपेक्ष राजनीति के लिए प्रयत्न करें तो भारतीय राजनीति धर्मान्धता की घुटन से हमेशा के लिए मुक्त हो सकती है।

□

राष्ट्रवाद

अक्सर निराशा व्यक्त की जाती है कि भारत में राष्ट्रवाद की जड़ें गहरी नहीं हैं क्योंकि प्राचीन भारत में राष्ट्रवाद नहीं था। प्राचीन भारत में भी राष्ट्रवाद था किन्तु दूसरी तरह का। वह सांस्कृतिक और भौगोलिक राष्ट्रवाद था। राजनैतिक राष्ट्रवाद नहीं। एक संस्कृति, एक आदर्श को मानने वाली जाति और एक भौगोलिक इकाई होने की भावना भारतीयों में हजारों वर्षों से है। वे प्रातः ही जिन मन्त्रों का उच्चारण करते हैं वे भौगोलिक एकता की चेतना के प्रतीक हैं। राष्ट्रीयता का यह आधार राजनैतिक आधार की अपेक्षा कहीं अधिक गहरा और स्थायी है। राष्ट्रीयता का यह आधार विश्व के किसी भी देश के पास नहीं है। निराश होने के बजाय यदि इस आधार पर राष्ट्रीयता का महल खड़ा करने का संकल्प राजनीतिज्ञ और बुद्धिजीवी करें तो बहुत कम समय में एक अत्यन्त बलवती राष्ट्रीय भावना का उदय हो सकता है। भारत माता की जो कल्पना स्वतन्त्रता सैनानियों ने की थी वह इन्हीं तत्वों पर आधारित है। वे दिन अभी दूर नहीं गये जब विश्व ने इस कल्पना का चमत्कार देखा था। कैसे इस काल्पनिक मूर्ति—भारत माता—के नाम पर करोड़ों भारतीय हृदयों में राष्ट्रीयता की उमंगें जवान हो गयीं थीं।

हर जाति की अपनी विशेषता होती है। यह सोचकर निराश होना है कि हममें राजनैतिक राष्ट्रीय भावना नहीं है, सही चिन्तन नहीं है। जो हैं उन तथ्यों को लेकर राष्ट्रीय भावना को विकसित करना चिन्तन का सदुपयोग है।

अंग्रेजों की राष्ट्रीय भावना क्या पुरानी है? नहीं। अमेरिकन, जर्मन और रूसी राष्ट्रीय भावनाएँ कौन सी बहुत पुरानी हैं। इन सबका जन्म अठारहवीं और उन्नीसवीं शताब्दी में हुआ है। उससे पहले इन राष्ट्रों की जनता में भी अपने को एक राजनैतिक इकाई समझने वाली राष्ट्रीय भावना का अभाव था।

पश्चिमी राष्ट्र भावना अर्थशास्त्र से जन्मी है। यह किसी उच्च मानवीय

दर्श से नहीं जन्मी है। मनुष्य ने एक बहुत मूल्यवान सत्य जान लिया था—शीनों से सामान बनाकर निर्धनता दूर की जा सकती है। राष्ट्रों ने जान लिया । कि इस सामान को अविकसित देशों में निर्यात करके वे उनकी दौलत खींच कते हैं। इंग्लैण्ड के अलावा अमेरिका, जर्मनी, फ्रांस भी मशीनों से भारी उत्पादन रने लगे थे। पूर्व का एक मात्र देश जो मशीनी उत्पादन में उनसे प्रतिद्वन्द्विता र रहा था वह था जापान। इन सभी देशों को बाजारों की तलाश थी क्योंकि अमीर तभी हो सकते थे जब इनके माल के खरीदार हों। माल बेचने के लिए भी एशिया और अफ्रीका की ओर भागते थे। इससे उनमें प्रतिद्वन्द्विता बढ़ी, घर्ष हुआ और परस्पर कटुता बढ़ी। इस कटुता से पश्चिमी राष्ट्रवाद का जन्म आ। यह राष्ट्रवाद अत्यन्त संकीर्ण, लोलुप एवं आदर्शविहीन था। यह डारविन ी मान्यताओं के अनुकूल था। निस्सन्देह ऐसा राष्ट्रवाद कोई बहुत मूल्यवान गुण हीं है जिसके लिए भारत ईर्ष्या करें।

यह ऐसा राष्ट्रवाद है जो विदेशों में माल बेचने के लिए संघर्षरत फैक्टरियों के मालिक अपने देशवासियों के साथ, समान हितों के कारण, महसूस करते थे। इस राष्ट्रवाद में दूसरे के राष्ट्रवाद के प्रति तीव्र असहिष्णुता और घृणा थी। यह मानवीय मूल्यों पर आधारित नहीं था। अतः दूसरे का राष्ट्रवाद इसे जहर दिखायी देता था। इसी संकीर्ण स्वार्थी और लोभी राष्ट्रवाद से फासिज्म और नाजिज्म का उदय हुआ। वे देश जिन्हें विदेशों में बाजार मिल गये—जैसे इंग्लैण्ड, फ्रांस, अमेरिका—पूंजीवादी देश बन गये, क्योंकि पूंजीवादी विचारधारा उनके स्वार्थों की सर्वाधिक रक्षा कर सकती थी। कुछ ऐसे देश थे जो बाद में जगे जैसे इटली और जर्मनी। ये जब तक मैदान में आये पूंजीवादी देश पूर्व पर आधिपत्य जमा चुके थे। वे इनके माल को पूर्व के बाजारों में बिकने से रोकने लगे।

इस तरह पूंजीवादी राष्ट्रों में दो गुट बन गये। एक वह थे जिनके माल को विदेशों में बाजार मिल जाता था। दूसरी ओर वे थे जिन्हें इतनी आसानी से बाजार नहीं मिल रहे थे। वे कुण्ठित पूंजीवादी थे। अपने कुण्ठित पूंजीवाद की झेंप मिटाने के लिए जर्मन जाति को हिटलर का संकीर्ण राष्ट्रवाद बहुत पसन्द आया। यह राष्ट्रवाद पूर्णतया आर्थिक भूख से उपजा था। मन्दी और बेरोजगारी ने जर्मनी की अर्थव्यवस्था को नष्ट कर दिया था। युद्ध हेतु जर्मन सरकार ने जो ऋण अपने देशवासियों से लिया था उसे चुकता करने के लिए जरूरत से ज्यादा नोट छाप लिये। किन्तु अभी बेरोजगारी की समस्या हल होनी थी जिसे हिटलर ने अपने संकीर्ण आदर्शवादी राष्ट्रवाद से हल कर लिया। यहूदी जर्मनी में शताब्दियों से छाये हुए थे क्योंकि वे ज्ञान, कला और धन सम्पदा में श्रेष्ठ थे। हिटलर ने सोचा कि उन्हें अगर जर्मनी से निकाल दिया जाये तो बेरोजगारी की समस्या

समाप्त की जा सकती है क्योंकि वे कुसियाँ और दुकानें जो वे खाली करेंगे उन पर बेरोजगार जर्मन युवकों को बैठाया जा सकता है। हिटलर ने नारा दिया शुद्ध जर्मन जाति का, आर्य जाति का। यहूदियों को जो शताब्दियों से जर्मनी को अपना देश माने हुए थे एक विदेशी जाति घोषित कर दिया गया। उनके प्रति जिस बर्बरता और पैशाचिकता का व्यवहार नाजियों ने किया वह इतिहास मे बेमिसाल है और मनुष्य की मनुष्य के प्रति हृदयहीनता का सबसे ज्वलन्त उदाहरण है। एन० फ्रेंक नाम की एक पन्द्रह वर्षीय लड़की ने नाजी पैशाचिकता की कुछ झलकियाँ अपनी मासूम द्वेषविहीन डायरी में दी है। इसे पढ़कर अन्दाज लगाया जा सकता है कि जो राष्ट्रवाद धन और सैन्य शक्ति की लोलुपता से जन्म लेता है वह कितना घातक और विनाशकारी हो सकता है।

बेरोजगारी से निपटने के लिए एक और तरीका हिटलर ने अपनाया। उसके प्रचार मन्त्री गोयबल्ज ने एक नया नारा जर्मन राष्ट्र को दिया—"नारी का काम सिर्फ बच्चे पैदा करना है।" इस तरह आधे जर्मन राष्ट्र, जर्मन औरतों, की रोजगार समस्या का हल हो गया। यह मनवा दिया गया कि उन्हें रोजगार की जरूरत ही नहीं है। औरतों को घर के बाहर काम में लगाना महान जर्मन आदर्शों के खिलाफ है। गोयबल्ज ने बच्चों को यह भी पढ़वाना शुरू किया कि "हिटलर दूसरा ईसा मसीह है और पहले वाले से ज्यादा महान है।" इस तरह जर्मनी मे एक ऐसा राष्ट्रवाद उदित हुआ जिसकी गुत्थियों में दिन पर दिन आर्थिक, सामाजिक और धार्मिक गुत्थियाँ उलझती चली गयीं। इसने जर्मन मस्तिष्क को ऊन का एक ऐसा उलझा हुआ गोला बना दिया जिसकी अभिव्यक्ति थी क्रूर हत्याकांड, आतंकवाद और खूनी लाल-लाल आंखें, भूरी कमीजें और पागलपन के दौरे। प्रेस को पूरी तरह कन्ट्रोल में ले लिया गया। गोयबल्ज कहता था, "प्रेस है क्या, एक बाजा, जिसे मैं बजाता हूँ।"

वह समाजवादी सशक्त आन्दोलन जो जर्मनी में चल रहा था उसने घुटने टेक दिये। ऐसा पागल राष्ट्रवाद कितना सशक्त हो सकता है इसका अनुमान इस बात से लगाया जा सकता है कि हिटलर की नीति मजदूरों और किसानो के विरुद्ध थी। फिर भी वे उसके साथ थे। बावन प्रतिशत जर्मन हिटलर के साथ थे।

इस शताब्दी के प्रारम्भ में नीत्शे ने सुपरमैन का नारा दिया था। "मनुष्य धरती का बेटा है, सुपरमैन धरती का अर्थ होगा।" नीत्शे ने दया, क्षमा, करुणा आदि गुणों को शाक्यमुनि की नपुंसकता कहा था। उसके अनुसार सुपरमैन के गुण हैं—क्रूरता, कठोरता, स्वार्थ, नृशंसता। हिटलर ने नीत्शे के सुपरमैन को जर्मन जाति का आदर्श बना दिया। गेटे ने अपने प्रसिद्ध नाटक (फाउस्ट) में मेफिस्टोफलीज (शैतान) की रचना यह दर्शाने के लिए की थी कि कैसे मनुष्य की

दुनियावी आकांक्षाओं का सहारा लेकर शैतान उसकी आत्मा को अपने कब्जे में कर लेता है। उसे नहीं पता था कि उसी के देशवासी एक शताब्दी के अन्दर मेफिस्टोफलीज (शैतान) को परम गुणवान आदर्श कहकर उसके दुर्गुणों को व्यापक रूप में अपना लेंगे।

ऐसा ही संकीर्ण राष्ट्रवाद फासिस्ट इटली में मुसोलिनी के नेतृत्व में उभरा। यूरोप के अन्य देशों जैसे बलगारिया, सर्बिया, हालैण्ड, बेल्जियम, आस्ट्रिया में भी राष्ट्रवाद एक अत्यन्त हिंसक, मानवीय आदर्शों से रिक्त, पूंजीवाद का बिगड़ा बेटा बनकर पैदा हुआ।

यूरोपीय राष्ट्रवाद दूसरे देशों के प्रति पागल घृणा भी था जिसमें एक देश के नेता दूसरे देश के प्रति सफेद झूठ बोलने और घृणा भड़काने से नहीं हिचकते थे। एक देश के विद्वान भी दूसरे देशों के विद्वानों के प्रति हर तरह की निर्लज्ज आरोप लगाने लगे। इस विचित्र पूंजीवादी राष्ट्रवाद का यही स्वरूप है। इस तरह के राष्ट्रवाद के न होने से भारत को कोई हानि नहीं है। यह भारत का सौभाग्य था कि ऐसे दौर में भारत को जो नेता मिले वे मौलिक थे। उन्हें यूरोपीय पूंजीवादी राष्ट्रवाद ने नितान्त दरिद्रता में भी, प्रेरित नहीं किया था। अक्सर पश्चिम के लोग परेशान होते हैं इस प्रश्न को लेकर कि भारत की संस्कृति हमारी संस्कृति से महान क्यों मानी जाती है। इसका एक प्रबल प्रमाण यही है कि जब यूरोप के धनी देशों के नेता भी पूंजीवादी राष्ट्रवाद का मानवता-विरोधी जहर अपने बच्चों को घुट्टी में पिलाते हुए नहीं हिचक रहे थे, उस समय भयानक दरिद्रता के बावजूद क्रूर विदेशी शासकों के नृशंस दमन को झेलते हुए भी, भारतीय नेताओं ने यूरोपीय नस्ल का लालची राष्ट्रवाद भारत को नहीं सिखाया। गांधी के अहिंसक नेतृत्व में उन्होंने भारत को वसुधैव कुटुम्बकम् वाली महान परम्परा के अनुरूप, राष्ट्रवाद को मानवता का गौरव बनाना सिखाया।

विवेकानन्द, लोकमान्य तिलक, गोखले, विपिनचन्द्र पाल, महात्मा गांधी और पण्डित नेहरू ने जिस राष्ट्रवाद के सूत्र में भारत को पिरोना चाहा वह मनुष्यता के गले में पड़ी हुई सबसे कीमती माला है। भारत का राष्ट्रवाद धीरे-धीरे उभरा जैसे-जैसे भारत की दबी हुई आत्मा उभरी। यह इसी तरह का विकसित हुआ जैसे एक बच्चे का मस्तिष्क विकसित होता है। जब लोकमान्य तिलक ने कहा स्वतन्त्रता मेरा जन्म सिद्ध अधिकार है तो शताब्दियों से सो रहे शिशु की माँ की पहली पुकार के रूप में इसे सारे भारत ने सुना। यह माल बेचने के, तिजोरियाँ भरने के और गुलामों को पकड़ने के पाशविक इरादों से भरे राष्ट्रवाद की आवाज नहीं थी। यह एक ऐसी आवाज थी जो पत्थर कूटती मां को उसके बच्चे ने दी थी, चाय बगानों में भूख और ज्वर से संतप्त गुलामी करती मां को उसके बच्चे

ने दी थी। यह वह पुकार थी जो शस्य श्यामला मातरम् को हल में बैल की जगह लगकर भी भूख का इलाज करने में असमर्थ बेटे ने दी थी।

भारतीय राष्ट्रवाद मानवीय सिद्धान्तों की ओट में पला। अन्तर्राष्ट्रीयता इसके ऊपर हमेशा साया किये रही। विवेकानन्द का भारत सन्तप्त मानवता की आँखों का सपना था। रवीन्द्रनाथ टैगोर और पण्डित नेहरू दोनों राष्ट्रवाद को संकीर्ण करने के विरुद्ध थे। पण्डित नेहरू का कहना था, "टैगोर ने हमारे राष्ट्रवाद को अन्तर्राष्ट्रीय दृष्टि दी है।" टैगोर का कहना था, "नेहरू का राष्ट्र भौगोलिक सीमाओं में बद्ध नहीं है।" महात्मा गांधी का भारत केवल साम्राज्यवादी अंग्रेज शासन का विरोधी नहीं था। यह वह भारत था जो मानवता के लिए स्वयं अपना बलिदान कर सकता था। □

राष्ट्रवाद का क्रमिक विकास

अंग्रेजी शिक्षा का प्रारम्भिक असर भारतीय युवा वर्ग पर प्रतिकूल पड़ा था। भूदेव मुखर्जी ने इसे निम्न शब्दों में व्यक्त किया है—"वे अंग्रेजी बोलते थे, अंग्रेजी में सोचते थे और सम्भवतः अंग्रेजी में ही स्वप्न देखते थे।" इसका कारण यह था कि जेम्स मिल और मृत्युंजय विद्यालंकार द्वारा लिखे गये भारत के इतिहास उन्हें पढ़ाये जा रहे थे। इन इतिहासकारों के अनुसार भारतीय हमेशा से संस्कृति, दर्शन, सभ्यता और राजतन्त्र आदि में दरिद्र और अविकसित रहे थे। पूर्वजों की इस दुर्दशा ने उनके हृदय में भारतीयता के प्रति लज्जा, निराशा और हीन भावना को जगा दिया था जिससे बचने के लिए वे अंग्रेजी सभ्यता में पलायन कर रहे थे।

किन्तु 1861 के आसपास तस्वीर बदलने लगी। एलेक्जेण्डर कनिंघम, सर विलियम जोन्स, मैक्स मूलर, फर्गुसन, प्रिसेप, विल्सन आदि इतिहासकारों द्वारा लिखा गया भारत का इतिहास पढ़े-लिखे भारतीयों के सामने आने लगा। इन इतिहासकारों के अनुसार भारतीय एक प्राचीन प्रबुद्ध और महान जाति थी जिसने विश्व को मनुष्य जाति की सर्वप्रथम साहित्यिक रचना, वेद और सर्वाधिक गूढ़ दार्शनिक ग्रन्थ, उपनिषद दिये थे। इतना ही नहीं, बौद्ध धर्म द्वारा विश्व के हर पाँच में से एक व्यक्ति को सभ्यता का सन्देश दिया था। इन इतिहासकारों ने बताया कि भारतीयों के पूर्वज भी वे ही आर्य थे जो यूरोपियनों के पूर्वज थे।

इस नये इतिहास ने एक गहरी देशभक्ति की भावना से भारतीयों को अनुप्राणित कर दिया। इस दौर में भारत जैसी प्राचीन संस्कृति के दो महान गढ़, यूनान और इटली, ने विदेशी शासन की बेड़ियाँ काट कर स्वतन्त्रता प्राप्त की।

इस दृष्टान्त ने एक आशा का दीप भारतीय हृदयों में जला दिया। लोकमान्य तिलक ने कहा था, "राष्ट्रवाद और देशभक्ति भारतीयों को अंग्रेजी शिक्षा की देन है।" अंग्रेजी शिक्षा का प्रसार सर्वप्रथम बंगाल में हुआ। अतः स्वाभाविक है कि देशभक्ति और राष्ट्रवाद की भावनाओं का जन्म भी सबसे पहले बंगाल में ही हुआ। किन्तु विडम्बना स्वरूप राष्ट्रवाद के साथ एक संकीर्णता ने भी बंगाल में जन्म लिया। अंग्रेजी के असर से बंगला भाषा का विकास हुआ और उसमें

स्वतन्त्रता, समानता और राष्ट्रवाद के नये विचार आये। इसके साथ बंगालियों में संकीर्णता और झूठे अभिमान का भी जन्म हुआ। वे शेष भारत से अपने आपको एक अलग, विशिष्ट और विकसित जाति मानने लगे। प्रसिद्ध नेता राजनारायण बोस, शिवनाथ शास्त्री और केशवचन्द्र सेन भी "बंगाली जाति" और "बंगाली राष्ट्र" जैसे शब्दों का प्रयोग करने लगे। उदार विचारों पर गर्व इतना बढ़ गया कि बंगालियों में एक कहावत प्रसिद्ध हो गयी : "जो बंगाल आज सोचता है वह भारत कल सोचेगा।" सम्भवतः यह इसलिए भी था कि भारत के पाँच हजार वर्षों के इतिहास में बंगाल कभी भी किसी भी क्षेत्र में आगे नहीं रहा था। यह पहला अवसर था जब अंग्रेजी शिक्षा ने उसे कुछ ऐसे विचार दिये थे जो शेष भारत के पास नहीं थे। मैकाले ने अपने इतिहास में बंगालियों को एक विशेष रूप से आलसी जाति कहा है जो इस प्रतीक्षा में थी कि अंग्रेज आये और उन्हें गुलाम बनाये। किन्तु मैकाले का यह अनुमान गलत निकला। इस आरम्भिक संकीर्णता के बाद बंगाल में विवेकानन्द और सुरेन्द्रनाथ बनर्जी के द्वारा एक सच्चे राष्ट्रवाद का जन्म हुआ जो बंगालियों को एक जाति नहीं मानता था न बंगालियों को एक राष्ट्र, जिसकी दृष्टि हिमालय से कन्याकुमारी तक थी, जो एक जाति, भारतीय, और एक राष्ट्र "भारत" का उद्‌घोष करता था।

"बंगाली राष्ट्रवाद" की एक कमी और थी। यह धार्मिक और नैतिक राष्ट्रवाद था, राजनैतिक नहीं। स्वयं केशवचन्द्र सेन ब्रिटिश राज को भारत के लिए एक वरदान मानते थे। उनकी यह राजनैतिक विरक्ति अंग्रेज नीति के अनुकूल थी। अतः इंग्लैण्ड में शासन और समाचार पत्रों ने उनको बहुत सम्मान दिया।

स्वामी दयानन्द सरस्वती वह पहले नेता थे जिन्होंने समूचे भारत को एकता और स्वराज का मन्त्र दिया। राजनैतिक स्वतन्त्रता उनका प्रथम लक्ष्य था। वे स्वयं गुजराती थे किन्तु हर तरह की प्रान्तीयता से ऊपर उठ चुके थे। उन्होंने देश को एक भाषा दी—हिन्दी, एक जाति माना आर्य। और तब बाल गंगाधर तिलक का उदय हुआ। तिलक की सिंह गर्जना ने पूरे देश को नींद से चौंका दिया। उनकी दृष्टि में कोई प्रान्तीयता नहीं थी। भारतीय राष्ट्रवाद को अन्तर्राष्ट्रीय मान्यता और सम्मान दिलाने में जो काम स्वामी विवेकानन्द ने किया वह अद्वितीय था, अभूतपूर्व था। उनका राष्ट्रवाद केवल अपने देशवासियों को उनके गौरवमय अतीत की याद दिलाने तक सीमित नहीं था। 1893 में उन्होंने शिकागो जाकर पूरे विश्व को चुनौती दी थी, यूरोप और अमेरिका के मस्तिष्क को बौद्धिक आघात दिया था। उन्हीं की भूमि पर उनसे मनवाया था कि भारत पराधीन होते हुए भी आध्यात्मिक रूप से विश्व का सर्वाधिक विकसित राष्ट्र है। विवेकानन्द के उदात्त चरित्र और ओजस्विता का असर था कि पहली बार प्रबुद्ध अमेरिका और यूरोप के हृदय में यह विचार आया कि इतने महान् देश को गुलाम बनाये

रखना अन्याय है। हेनरी मिलर जैसे विद्रोही साहित्यकार, जो हर आदर्श में छुपे पाखण्ड और ढोंग का पर्दाफाश करने में लगे थे, चुपचाप स्वामी विवेकानन्द के चरणों में ऐसे बैठ गये जैसे सिंह महावीर के समवशरण में बैठ गये थे। आधुनिक विश्व के सांस्कृतिक नक्शे पर भारत को प्रमुख स्थान दिलाकर स्वामी विवेकानन्द ने दलित भारत की पुकार को एक मेमने की आवाज से एक सिंह की दहाड़ में बदल दिया जिस पर दूर-दूर बसे विश्व के लोगों का ध्यान जाने लगा। बड़े-बड़े बुद्धिजीवी, जैसे रोमा रोलां, भारत की ओर आकर्षित होने लगे। उनके आकर्षित होने के मायने थे उनसे जुड़ा हुआ पाठकों का एक बड़ा वर्ग भारत की ओर आकर्षित होने लगा।

भारतीय राष्ट्रवाद को अन्तर्राष्ट्रीय आकार देने में भारत के तीन सांस्कृतिक राजदूतों का योगदान अविस्मरणीय है, प्रातः स्मरणीय है। भारत माता के ये तीन राजदूत थे—विवेकानन्द, आनन्द कुमार स्वामी और रवीन्द्रनाथ टैगोर। विवेकानन्द ने जिस महान आध्यात्मिक भारत का परिचय पश्चिम को दिया उसके आकर्षण से विह्वल होकर उसे छूने की, उसे बुद्धि से पकड़ने की, उसके सौन्दर्य का साक्षात्कार करने की उत्कट लालसा विश्व के बुद्धिजीवियों में जगी। इसकी पूर्ति की आनन्द कुमार स्वामी और रवीन्द्रनाथ टैगोर ने। भारत माता का जो सूक्ष्म और भव्य आध्यात्मिक चित्र विवेकानन्द ने बनाया था उसे बुद्धिगम्य आकार और रंग दिये आनन्द कुमार स्वामी ने और उस चित्र को सुन्दरम् का जीवित स्पन्दन दिया रवीन्द्रनाथ टैगोर ने। पश्चिम का मुख्यतः वैज्ञानिक मस्तिष्क भारत के आध्यात्मिक सौन्दर्य को बुद्धि के अपेक्षाकृत स्थूल आकार में सरलता से महसूस कर सकता था। यह महान कार्य आनन्द कुमार स्वामी ने किया। आनन्द कुमार स्वामी की इस महान सेवा का अनुमान एल्डस हक्सले, रोथेन्सटीन और रोजर फ्राई द्वारा किये गये मूल्यांकन से लगाया जा सकता है। कोई भी पश्चिमी मस्तिष्क जो भारत की महान देन से परिचित होना चाहता था कुमार स्वामी की सशक्त मेधा के आघात से अनछुआ नहीं रह सका। इतना ही नहीं यूरोप की आधुनिक कला और संस्कृति में भारतीय सिद्धान्तों को प्रतिष्ठित करने का श्रेय मुख्यतः आनन्द कुमार स्वामी को है। यूरोप के वे बुद्धिजीवी और सौन्दर्य-शास्त्री जो भारतीय कला और संस्कृति में एक वहशी असभ्यता का दर्शन कर रहे थे कुमार स्वामी के गणित की तरह नपे-तुले वाक्यों और प्रखर अकाट्य तर्क के आगे गूंगे हो गये। उनकी अज्ञान तिमिर से प्रेरित भारत-विरोधी वाचालता नपुंसक रोष में बदल गयी और फिर एक-एक कर सबने शस्त्र समर्पित कर दिये। कठिन झंझावातों के बीच भारत की श्रेष्ठता की पताका आनन्द कुमार स्वामी पश्चिमी विद्वेष, दुराग्रह और संकीर्णता की भूमि पर गड़ी थी। इसने भारतीय राष्ट्रवाद को एक विलक्षण मनोबल दिया।

भारतीय राष्ट्रवाद और देशभक्ति के इस जागरण को इतने महान सपूतों के होते हुए, जब ब्रिटिश साम्राज्यवाद बुद्धि और न्याय के बल पर नहीं कुचल सका तो उसने कुटिलता से काम लिया और मुहम्मद अली जिन्ना मे उस व्यक्ति को चुन लिया जो उनकी पृथकतावादी योजना को सफलता दे सकता था। उन्होंने लांछन लगाया कि यह हिन्दू राष्ट्रवाद है, भारतीय राष्ट्रवाद नहीं और इस तरह मुसलमानों को अलग कर दिया। यह एक अपरिवर्तनीय ऐतिहासिक सत्य है कि भारत का अतीत और हिन्दुओं का अतीत एक है क्योंकि उस समय तक इस्लाम का जन्म नहीं हुआ था। उस अतीत को यदि भारतीय मुसलमान अपना अतीत न माने तो उनका कोई अतीत नही रह जाता। अतीत विहीनता की भावना से किसी भी जाति मे एक भयानक मानसिक संकट (Psychosis) और आन्तरिक शून्य पैदा किया जा सकता है। इकबाल आदि कुछ मेधावी मुस्लिमों ने आरम्भ में इस सत्य को पहचाना और मुस्लिम चेतना को भारतीय चेतना से अलग होने से रोका। उन्होंने मुस्लिम समुदाय को सत्य से परिचित कराया कि उनकी जाति भी भारतीय है, मुसलमान वे सिर्फ चौदह सौ वर्षों में हुए है। महाभारत, रामायण, और पुराणों में वर्णित महान पूर्वज उनके भी पूर्वज है, उन्हें भी इस महान परम्परा पर उतना गर्व होना चाहिए जितना हिन्दुओं को। हिन्दू और मुसलमानों का संगीत और नृत्य एक है, कला और संस्कृति एक है, पारिवारिक जीवन के मूल्य एक हैं। ये मेधावी मुस्लिम यह बताने का प्रयत्न कर रहे थे कि भारत का गौरवमय अतीत हिन्दू है तो इससे कोई अन्तर नहीं पड़ता क्योंकि उस अतीत मे मुसलमानों के पूर्वज भी हिन्दू थे।

किन्तु ब्रिटिश साम्राज्यवाद के गहरे षड्यन्त्र और मुहम्मद अली जिन्ना के अडिग पृथकतावादी आग्रह के आगे इन थोड़े से मेधावी मुस्लिमों की न चल सकी उनमें सबसे सशक्त सुर इकबाल का था। वह सुर भी धीरे-धीरे बदलने लगा। इकबाल ने कभी एक जाति, एक राष्ट्र की हुंकार लगायी थी और कहा था कि मुसलमान हिन्दू नही है तो क्या हिन्दी तो है। उस कण्ठ से एक जाति और संस्कृति के तराने फूटे थे : "ऐ आबरुदे गंगा वह दिन है याद तुझको उतरा किनारे तेरे जब था कारवाँ हमारा।" वही इकबाल बाद में संकीर्ण साम्प्रदायिकता का नारा बुलन्द करने लगे। यह एक दुर्भाग्य था। इकबाल का आध्यात्मिक एकता का सुर मोहम्मद अली जिन्ना के साम्प्रदायिक सुर में उसी तरह खो गया जैसे मायकोव्स्की का मानवीय गरिमा से परिपूर्ण सुर लेनिन के साम्यवादी सुर में खो गया था। ऐसे मिलन में हानि हमेशा मानवीय और एकतावादी सुर की होती है। मायकोव्स्की अपना मौलिक सुर खोकर इतना दुःखी हो गया था कि उसे आत्म-हत्या करनी पड़ी थी। इकबाल ने भी आध्यात्मिक आत्महत्या कर ली।

भारत के गौरवमय अतीत को अपना अतीत न मानने के ब्रिटिश-प्रेरित

आग्रह ने मुस्लिम-समुदाय को अपार हानि की। इसने उसके जनमानस में भयानक ग्रन्थियाँ डाल दीं और उनका सम्बन्ध उनके ही अचेतन से तोड़ दिया। उनके अचेतन में भी वे ही स्मृतियाँ, विश्वास, मान्यताएँ और जननायक बसे है जो हिन्दुओं के अचेतन में है क्योंकि दोनों के पूर्वज एक थे। मुसलमान अपने चेतन में बसे इन तत्वों के निकट आते हुए भी डरने लगे। इन्हें पराया कहकर इनसे नफरत करने लगे। इस प्रकार उनके व्यक्तित्व विभक्त हो गये। उनका चेतन उनके ही अचेतन से लड़ने लगा। वे यह भी न समझ सके कि वे जिसे हिन्दू कहकर अपना विरोधी मान रहे थे वह स्वयं उनका अचेतन था; उनके अचेतन में बसे हिन्दू पूर्वजों से मिले संस्कार थे जो उनके व्यक्तित्व के अविभाज्य अंग थे। फ्रायड और जुंग उन्हें बता सकते थे कि कोई भी धार्मिक आग्रह उनके अचेतन से उनके संस्कारों को नहीं मिटा सकता और जितना वो उसको मिटाना चाहेंगे उतना ही वो उग्र होगा। जिन्ना आदि नेताओं को शिकायत थी कि हिन्दू उन पर हावी होना चाहते हैं और उनकी पृथक पहचान को मिटा देना चाहते हैं। आधुनिक मनोविज्ञान उन्हें बता सकता था कि अचेतन की शक्ति चेतन से दस गुणी अधिक है। अगर हमारा चेतन अचेतन पर प्रहार करेगा तो अचेतन हावी हो जायेगा। इसका परिणाम हिंसा और उन्माद होते हैं। पाकिस्तान बनने के बाद यह समस्या वहाँ के मुसलमानों के सामने भी आयी। वे स्वयं यह मानने लगे है कि पाकिस्तान की संस्कृति पाँच हजार वर्ष पुरानी है। वे अपने को मोहनजोदाड़ो, हड़प्पा, तक्षशिला के गौरवमय अतीत से जोड़ने का उपक्रम कर रहे हैं। उनके मनोवैज्ञानिक अतीत के प्रति दुराग्रह के भयानक परिणामों से परिचित हो गये है। उनके युवा कवि खुलकर गंगा का स्मरण करने लगे है। अमीर खुसरो और मीरा की काव्य सम्पदा को अपनी सम्पदा मानने की चेष्टा कर रहे है। किन्तु पृथकतावाद का दानव उनके अचेतन को दूर तक रौंद चुका है और जगह-जगह उन्हें अपने जनमानस में अपने ही नेताओं द्वारा रची गयी विनाशकारी मानसिक ग्रन्थियाँ मिल रही है। भारत चाहता है कि वे इस मानसिक संकट से मुक्त हों और अपने विभक्त व्यक्तित्व को पुनः एक करके एक महान उपनिवेश की रचना में सहयोग दें।

आर० सी० मजूमदार का कहना है, "महान अतीत की स्मृति ने प्रत्येक देश की जनता को एकता के सूत्र में बाँधा है लेकिन भारत में इसका उल्टा हुआ। हर महान ऐतिहासिक घटना का उल्टा असर मुसलमानों पर हुआ है। इसकी एक मिसाल लोकमान्य तिलक हैं। गणपति उत्सव के माध्यम से उन्होंने पूरे देश को राष्ट्रीयता और देश प्रेम का महामन्त्र दिया। लेकिन हिन्दू देवताओं की मूर्तियाँ मुसलमानों में मूर्ति तोड़ने की नीयत को भड़काती है। कोई राष्ट्रीय भावना नहीं जगाती। शिवाजी उत्सव के द्वारा भी तिलक ने भारतीय राष्ट्रवाद की महान

सेवा की। लेकिन शिवाजी उत्सव मनाने के कारण मुसलमानों ने उन्हें कभी माफ नहीं किया।"

लोकमान्य तिलक की दलील कि शिवाजी सभी धर्मों का एक समान आदर करने तथा पराजित मुगलों की बेगमों के साथ भी सम्मान का बर्ताव करने के कारण मानवता के प्रतीक थे, मुसलमानों को प्रभावित न कर सकी। जब धार्मिक मतभेदों को ही निर्णय का आधार बना लिया जाता है तो ये त्रुटियाँ स्वभाव बन जाती हैं। यद्यपि स्वामी दयानन्द का उद्देश्य इस्लाम का विरोध नहीं था, और वे केवल उस अनाचार और अन्याय का खण्डन कर रहे थे जो मुसलमानों ने सत्ता के मद में हिन्दुओं के प्रति किया था, तथापि धार्मिक विवाद कभी एकता स्थापित नहीं करते।

बंकिम चन्द्र ने बन्दे मातरम् का नारा दिया किन्तु उनके विचार भी मुसलमानों में देशभक्ति न प्रेरित कर सके। बंगाल के कवि रंगलाल, नवीनचन्द्र और हेमचन्द्र भी मुस्लिम शासकों को माध्यम बनाकर ब्रिटिश शासन के प्रति अपना आक्रोश व्यक्त कर रहे थे। फिर भी इसका असर मुस्लिम समुदाय पर अच्छा नहीं पड़ा। बंगाल के इन राष्ट्रवादी लेखकों के प्रति मुसलमानों की उपेक्षा में भले ही कुछ सार हो किन्तु किसी भी पैमाने से विवेकानन्द के राष्ट्रवाद को साम्प्रदायिक नहीं कहा जा सकता। यदि आधुनिक विश्व के किसी कोने में धार्मिक संकीर्णता से उठकर किसी ने मानव आत्मा को स्वर दिये थे तो वह स्वर विवेकानन्द का था। केवल हिन्दुओं ने नही विश्व के ईसाइयों, बौद्धों, पारसियों, जैनों ने भी उनके स्वर में सम्पूर्ण मानवता की आवाज को पाया था। वे जो किसी धर्म से प्रभावित नहीं थे ऐसे भी लाखों भौतिकतावादी अमेरिकन विवेकानन्द की सच्ची आध्यात्मिकता से अछूते नहीं रहे थे। यह भारतीय जनता का दुर्भाग्य ही कहा जायेगा कि विवेकानन्द को भी मुसलमान नेताओं ने स्वीकार नहीं किया। विवेकानन्द ने स्पष्ट कहा था—"आज भारत को जिस वस्तु की सर्वाधिक आवश्यकता है वह न धर्म है न दर्शन बल्कि रोटी है।"

"मजबूत बनो नौजवानो। गीता की अपेक्षा फुटबाल तुम्हें ईश्वर से अधिक निकट ले जायेगी।" इतने क्रान्तिकारी धर्म निरपेक्ष विचारों वाले विवेकानन्द को भी मुस्लिम मानस ने नहीं अपनाया। इसका प्रमुख कारण था मुस्लिम नेताओं में व्याप्त अविश्वास और भय।

महात्मा गांधी, सुभाषचन्द्र बोस और जवाहरलाल नेहरू ने अपने विचारों और कार्यप्रणाली को उस सीमा तक धर्म निरपेक्ष बनाया जिस सीमा तक मनुष्य के लिए सम्भव है। उन्होंने धर्म की जगह मानवतावाद को अपने विचारों का आधार बनाया। उन्होंने बार-बार मुस्लिम भावनाओं के सम्मान में अपने विचारों को सच्ची धर्म निरपेक्षता के मार्ग पर आरूढ़ किया। यहाँ तक कि कितने ही

संघर्षमय अवसरों पर उन्होंने मुस्लिम भावनाओं का ज्यादा ध्यान रखा और हिन्दुओं की नाराजगी की चिन्ता नहीं की। गांधी जी के प्राण एक हिन्दू ने इसी कारण लिये कि वह समझता था कि गांधी जी मुसलमानों का पक्ष ले रहे हैं।

किन्तु वे सभी प्रयत्न विफल रहे। मुहम्मद अली जिन्ना के नेतृत्व में मुस्लिम समुदाय पृथक पाकिस्तान की मांग करता चला गया। खान अब्दुल गफ्फार खान, मौलाना आजाद, रफी अहमद किदवई, अलीबन्धु आदि अनेक मुस्लिम नेता गांधी जी के साथ रहे किन्तु मुस्लिम समुदाय पर उनका प्रभाव अधिक नहीं था। मुस्लिम बहुमत जिन्ना के साथ रहा। पृथकतावाद और हिन्दुओं के प्रति अविश्वास पर पलने के बाद वे किसी भी कीमत पर एक राष्ट्र के प्रस्ताव को स्वीकार करने के लिए तैयार नहीं हुए। उनकी बौद्धिक स्वतन्त्रता को साम्प्रदायिक प्रचार ने पूरी तरह कुचल दिया था। □

धार्मिक और साहित्यिक नवजागरण

अंग्रेजी शिक्षा का सर्वाधिक असर हिन्दू धर्म और समस्त भारत की साहित्यिक विधाओं पर पड़ा। अंग्रेजी पढ़े-लिखे लोगों को कर्मकाण्ड, वर्णव्यवस्था, सतीप्रथा और छुआछूत आलोकविहीन और पतनकारी नजर आने लगे। उनमें तर्क द्वारा विश्वास को चुनौती देने की आदत जड़ पकड़ने लगी थी। वे हृदय की आवाज को शास्त्रों की अपेक्षा कहीं बड़ा नैतिकता का प्रमाण मानने लगे थे। शताब्दियों की नींद के दौरान हिन्दू धर्म में आयी बुराइयों के प्रक्षालन का समय आ गया था।

जहाँ नयी भाषा और नये विचार हमें हमारी रूढ़िवादिता और बुराई दूर करने में मदद देते हैं, वहाँ उनकी नजर से देखने पर हमें अपनी बहुत सी खूबियाँ भी बुराई नजर आने लगती है। हिन्दू धर्म, जैसा डा० राधाकृष्णन ने कहा था, एक धर्म नहीं जीवन शैली है। मुख्यतः यह मानसिक उपचार का एक तरीका है। इसी उद्देश्य की पूर्ति के लिए इसमें अनेक देवी-देवताओं की कल्पना की गयी है। वे सभी मानसिक शक्तियों के प्रतीक है। जीवन के अनुभव हमारी मानसिक शक्तियों को विकृत और कुण्ठित करते हैं। मानसिक शक्तियों की अधिष्ठात्री देवियों और देवताओं की उपासना उन विकृतियों को रोकने का हिन्दू ढंग है। मनुष्य में क्रोध, हिंसा, विनाश आदि मानसिक शक्तियों के देवता रुद्र हैं। मनुष्य में काम-भाव के देवता ब्रह्मा हैं। मनुष्य में दया, करुणा, प्रेम, वात्सल्य आदि मानसिक शक्तियों के देवता विष्णु हैं। इन तीनों की उपासना करके हिन्दू अपने मनस में हजारों वर्षों से एक अनोखा सन्तुलन बनाये रखने में सफल रहे हैं। इतिहास साक्षी है कि उन्होंने कभी दूसरे देशों को गुलाम बनाने की चेष्टा नहीं की, अन्य जातियों से पशुओं जैसा व्यवहार नहीं किया।

इसके विपरीत ईसाई धर्म और इस्लाम एक ईश्वर की उपासना को ही उचित समझते है। हिन्दू एक ईश्वर में विश्वास को आध्यात्मिक-बौद्धिक तल पर मान्यता देते है। किन्तु उनका विश्वास है कि मनुष्य का मानसिक तल विविधता और अनेकता का प्रतीक है। उसमें सन्तुलन अनेक देवी-देवताओं की पूजा से ही

होता है। उन्होंने मानसिक अनेकता को बिना नष्ट किये उसमें आध्यात्मिक एकता का दर्शन करना जन-साधारण को सिखाया था। यह कार्य पुराणों के माध्यम से सम्पन्न हुआ था। यह उपलब्धि एक दो शताब्दियों में नहीं हजारों वर्षों में हुई थी।

अंग्रेजी पढ़े-लिखे हिन्दू विद्वानों को यह उपलब्धि नजर नहीं आयी। वे इसे एकेश्वरवादी हिन्दुओं के क्रमिक पतन का प्रतीक मानने लगे। उन्हें लगा कि एक ईश्वर में विश्वास सभ्य समाज का लक्षण है और अनेक देवताओं में विश्वास असभ्यता का लक्षण है। अतः अनेक मेधावी अंग्रेजी पढ़े विद्वान यह दर्शाने पर लग गये कि हिन्दू धर्म का परिष्कृत रूप भी केवल एक ईश्वर में, एक ब्रह्म में विश्वास रखता है। फलस्वरूप ब्रह्मसमाज, आर्य समाज, वेदान्त जैसे हिन्दू धर्म के नये रूप प्रकट हुए जिनका मूल था एकेश्वरवाद और मूर्तिपूजा में अनास्था। स्वामी दयानन्द सरस्वती का विचार था कि हिन्दुओं में संगठन और एकता न होने का कारण यह था कि उनके पास बाईबिल और कुरान जैसी कोई पुस्तक नहीं थी जो स्वयं ईश्वर ने लिखायी हो और जिसकी प्रमाणिकता सन्देह से परे हो। इस कमी की पूर्ति उन्होंने वेदों को ईश्वरीय रचना मानकर की। उन्होंने कहा कि मूर्ति पूजा, वर्णव्यवस्था सब ढकोसले हैं। ईश्वर निराकार है। वह सत्-असत्, जड़-चेतन सभी द्वैतों से परे है। यही मान्यता ईसाइयों और मुसलमानों की भी है। ईसाई पादरी और मुसलमान एक ईश्वर का सरल सन्देश देकर करोड़ों हिन्दुओं का धर्म परिवर्तन करने में सफल हो गये थे। स्वामी दयानन्द ने इस पर रोक लगायी हिन्दुओं को यह समझाकर कि एकेश्वरवाद के लिए उन्हें धर्म त्यागने की जरूरत नहीं है क्योंकि ईसाइयों और मुसलमानों के जन्म के हजारों वर्षों पहले से हिन्दू एकेश्वरवाद में विश्वास करते रहे हैं। उन्होंने गोपूजा और यज्ञों का समर्थन किया। उनका आदेश था कि प्रतिदिन आर्य समाजी घी की आहुति देकर यज्ञ करें। उन्होंने अपनी सभी पुस्तकें हिन्दी में लिखीं। उनका विचार था कि हिन्दी के जरिये पूरे राष्ट्र को संगठित किया जा सकता है। स्वामी दयानन्द की प्रेरणा से अनेक कालेज भारत भर में खुले। उनकी एक बहुत बड़ी देन थी—शुद्धि आन्दोलन। जो हिन्दू धर्म छोड़कर मुसलमान या ईसाई हो गये थे उनके लिए हिन्दू धर्म के दरवाजे हमेशा के लिए बन्द हो जाते थे। एक हिन्दू को मुसलमान बनाने के लिए इतना काफी था कि वह किसी मुसलमान के हाथ का बना खाना खा ले। फिर वह हिन्दू धर्म में नहीं रह सकता था। एक हिन्दू लड़की को यदि कुछ घण्टों के लिए किसी मुस्लिम घर में जबर्दस्ती रहना पड़ जाता था तो फिर उसका परिवार उसे स्वीकार नहीं कर सकता था। स्वामी दयानन्द ने पहली बार ये दरवाजे खोल दिये। वे जो फिर से हिन्दू बनना चाहते थे बन सकते थे।

अंग्रेजी शिक्षा ने शास्त्रों का अर्थ बताने के ब्राह्मणों के एकाधिकार को समाप्त

कर दिया। यह परिवर्तन एक क्रान्ति से कम नहीं था। अंग्रेज और जर्मन विद्वानों ने वेदों, उपनिषदों और पुराणों की सारगर्भित व्याख्या की थी। उन्होंने इस धर्म में छुपे हुए कुछ ऐसे गूढ़ रहस्य भी उजागर किये थे जो किसी को विदित नहीं थे। उनके बाद ऋषि अरविन्द, विवेकानन्द और महात्मा गांधी आदि अनेक अब्राह्मण विद्वानों ने टीकाएँ और भाष्य लिखे, प्राचीन मन्त्रों की नयी व्याख्याएँ कीं। इसका विरोध ब्राह्मणों ने नहीं किया। वे अंग्रेजी भाषा की गूढ़ ग्रन्थों के मर्म तक पहुँचने की शक्ति से प्रभावित हो चले थे। अब्राह्मण विद्वान नारी समस्या, अछूत समस्या, वर्ण व्यवस्था जैसे महत्वपूर्ण विषयों पर सर्वथा नया मार्ग सुझा रहे थे। हिन्दू धर्म में बौद्धिक क्रान्ति आ चुकी थी। एक शताब्दी पूर्व कोई भी अब्राह्मण ऐसा नहीं कर सकता था। पूजा-प्रक्षालन और कर्मकाण्ड को तजकर ये नये विद्वान मनुष्य की सेवा को सबसे ऊँचा धर्म बता रहे थे। समाज की कुरीतियों को दूर करना, लड़कियों को शिक्षा देना, अछूतों को अपने समान समझना, भूखे-नंगे लोगों के लिए अन्न-वस्त्र जुटाना और दरिद्र नारायण की सेवा—यह नया स्वरूप था हिन्दू धर्म का जिसका वे प्रचार कर रहे थे। ब्रह्मसमाज हिन्दू धर्म का ईसाई विचारधारा से प्रेरित रूप था। पढ़े-लिखे बहुत से हिन्दू अनेक देवी-देवताओं को पिछड़ेपन का प्रतीक समझ ईसाई हो रहे थे। कुछ विद्वानों ने ऐसे समय में जरूरी समझा कि अनेक देवी-देवताओं की उपासना छोड़कर हिन्दू धर्म के एकेश्वरवाद पर जोर दिया जाये। 1857 के बाद के ब्रह्मसमाजी नेताओं में प्रमुख नाम केशवचन्द्र सेन का है। उन्होंने देवेन्द्रनाथ टैगोर के नेतृत्व वाले पुराने दल से विद्रोह करके विधवा विवाह और अन्तर्जातीय विवाह पर जोर दिया। उन्होंने बाल विवाह और पर्दा प्रथा का विरोध भी किया। वे इस आन्दोलन को व्यापक बनाने के उद्देश्य से भारत के विभिन्न प्रान्तों में गये और वहाँ भाषण दिये। सेन की रुचि राजनीति में नहीं थी। अतः वे अंग्रेजों को भी पसन्द आये। उनका कार्य क्षेत्र धार्मिक और सामाजिक सुधार तक सीमित था। सेन की एक करनी के कारण उनका बढ़ता असर अचानक समाप्त हो गया। उन्होंने अपनी अवयस्क पुत्री का विवाह एक अवयस्क राजकुमार के साथ करा दिया। यह उन विचारों के विपरीत था जिनका वे प्रचार कर रहे थे। उनके बाद ब्रह्मसमाज का असर भी समाप्त होने लगा। इसके नये नेता शिवनाथ शास्त्री और आनन्द मोहन बोस इतने प्रभावशाली नहीं थे। किन्तु ब्रह्मसमाज हिन्दुओं में एक स्थायी परिवर्तन ला चुका था।

प्रार्थना सभा ब्रह्मसमाज की ही एक बम्बइया संस्करण थी। इसकी स्थापना 1887 में सेन के प्रभाव में हुई थी। भण्डारकर और रानाडे इसके नेता थे। वे वेदों को दैवीय और अकाट्य नहीं मानते थे। वे आत्मा के पुनर्जन्म और अवतारवाद को भी नहीं मानते थे। उनकी सबसे महत्वपूर्ण सेवा स्त्री शिक्षा के क्षेत्र में

रहीं। आर्य समाज की स्थापना स्वामी दयानन्द सरस्वती ने 1875 में की थी। वे ईसाइयों और मुसलमानों के एकेश्वरवाद और हिन्दुओं के अनेक देवी-देवताओं में विश्वास दोनों को मान्यता नहीं देते थे। ब्रह्मसमाज पाश्चात्य बौद्धिकता पर आश्रित था और इसका सर्वाधिक असर अंग्रेजी पढ़े-लिखे लोगों पर था। दयानन्द अंग्रेजी नहीं जानते थे। उनका असर साधारण लोगों पर पड़ा। यह धर्म आज भी जीवित है और इसके लाखों अनुयायी विशेषतः उत्तर प्रदेश और पंजाब में आज भी देखे जा सकते हैं।

एनी बेसेन्ट के नेतृत्व में थियोसोफिकल सोसाइटी ने बहु देवी-देवतावाद और एकेश्वरवाद में समन्वय स्थापित करने की चेष्टा की। हिन्दू बहु देवी-देवताओं के कारण, ईसाई पादरियों और मुसलमानों की आलोचना से क्षुब्ध होकर अपने को हीन मानने लगे थे। थियोसोफिकल सोसाइटी ने बताया कि मनुष्य की आवश्यकताएं केवल बौद्धिक नहीं मानसिक भी हैं। बौद्धिक सन्तोष के लिए जहाँ एकेश्वरवाद जरूरी है वहाँ मानसिक शान्ति के लिए बहु देवी-देवतावाद और मूर्तिपूजा भी आवश्यक है। उनकी मान्यता थी कि प्राचीन ऋषि और सन्तों का सूक्ष्म शरीर अब भी विद्यमान है और वे थियोसोफिकल सोसाइटी की अध्यक्षा मैडम ब्लावात्स्की तथा एनी बेसेन्ट से बातें करते हैं।

यह धर्म अधिक जीवित न रह सका। किन्तु व्यवहारिक हिन्दू धर्म और पश्चिम से आये बौद्धिकवाद के बीच समन्वय स्थापित करने में इसने जो काम किया वह अविस्मरणीय रहेगा। रामकृष्ण परमहंस और उनके शिष्य विवेकानन्द का असर इन सब नये धर्मवादों से बढ़कर और विश्वव्यापी हुआ। यह केवल हिन्दुओं का एक सुधारवादी आन्दोलन मात्र नहीं था। यह एक आध्यात्मिक मार्ग था। विवेकानन्द ने समाज सेवा और गरीबी दूर करने को सर्वश्रेष्ठ धर्म कहा। वे मनुष्यों के बीच प्रेम और बन्धुत्व को धर्म प्रचार से अधिक महत्वपूर्ण मानते थे। "गरीबों के प्रति सहानुभूति, उनके भूखे मुख को अन्न और जनसाधारण को ज्ञान-दान" उनके सन्देश का सार था। "धर्म के ठेकेदारों को निकाल बाहर करो", उन्होंने कहा। "कहाँ जाते हो ईश्वर को खोजने? क्या ये सभी दरिद्र, दुःखी, कमजोर मनुष्य ईश्वर नहीं हैं?" विवेकानन्द ने हिन्दू नवजागरण के सभी सूत्रों को एक माला में पिरो दिया। विवेकानन्द चाहते थे कि मनुष्य के व्यक्तित्व का सन्तुलित विकास हो। उसके भौतिक और आध्यात्मिक दोनों तत्वों में से कोई भी दूसरे पर हावी न हो।

नवजागरण की धूप मुस्लिम दरवाजों तक भी पहुँची। अंग्रेजों के हाथों मुसलमानों ने अधिक दुःख पाया था। 1857 के बाद हजारों मुसलमानों को अकेली दिल्ली में अंग्रेजों ने मौत के घाट उतारा था। दिल्ली मुसलमानों का गढ़ था। अब अंग्रेजों ने वहाँ एक भी मुस्लिम घर नहीं छोड़ा था, जिसके दरो-दीवार

सलामत हो। गालिब, बहादुरशाह जफर और सैयद अहमद खां की लेखनी में हमें इस दर्दनाक दृश्य की झलकियाँ मिलती हैं। मुस्लिम विद्वानों का एक नया दल सामने आया। इनका विचार था कि सूफियों के कारण ही इस्लाम की यह दुर्दशा हुई थी। सूफियों के कारण मजारों की पूजा, अन्धविश्वास और हिन्दू प्रभाव इस्लाम में आया था, जिसने इसे अपवित्र कर दिया था। वे इस्लाम को फिर से कट्टर बनाने के कार्य में जुट गये। हिन्दू नवजागरण उदारता और समन्वय के पक्ष में था तो मुस्लिम नवजागरण कट्टरता को अपना उद्देश्य बनाये हुए था। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए देवबन्द में 1866 में दार-अल-उलूम की स्थापना हुई। यह स्कूल वहाबी विचारधारा का प्रचार करने लगा जो कट्टर और शुद्धतावादी थी। तब से मुसलमानों के सामाजिक, धार्मिक और राजनैतिक मसलों पर फतवे देने का कार्य पूरी तरह कट्टरतावादी विद्वानों के हाथों में आ गया है। किन्तु सूफी मान्यताओं वाली, प्रेम और सहिष्णुता का प्रचार करने वाली हनाफी विचारधारा का असर आज भी साधारण मुस्लिम जनता पर कम नहीं है। उनकी भावनाओं को तृप्ति आज भी इस विचारधारा में मिलती है। प्रतिवर्ष बड़े-बड़े मेले लगते हैं सूफी सन्तों के मजार पर जिनमें लाखों की संख्या में मुसलमान शिरकत करते हैं। इन मेलों में प्रमुख है ख्वाजा चिश्ती, निजामुद्दीन औलिया, शेख सलीम और पीरान कलियर के मजारों पर लगने वाले मेले। सैयद अहमद बरेलवी, नवाब सिद्धीक हसन, सैयद नजीर हुसैन और मौलवी अब्दुल्ला चक्रलवीस के नेतृत्व में मुस्लिम सुधारवादी आन्दोलन कुरान और हदीस के अर्थ समझाने तक ही सीमित रहा। अक्सर विद्वानों में विवाद होते थे ऐसे विषयों पर जैसे—क्या इस्लाम चार से ज्यादा बीवियों की इजाजत देता है? क्या दो मुस्लिम औरतों की गवाही का मूल्य एक पुरुष की गवाही के मूल्य के बराबर नहीं है? क्या परित्यक्त मुस्लिम औरत अपने पति से जीवन निर्वाह भत्ता पाने की अधिकारिणी है? इन सभी विवादों में जो पक्ष सर्वाधिक कट्टर होता था वह विजयी हो जाता था।

मुस्लिम सुधारवादियों ने मुसलमानों की गरीबी दूर करने और मुस्लिम महिलाओं के उत्थान को अपना विषय नहीं बनाया। सुल्तान जहाँ बेगम ने मुस्लिम महिलाओं के प्रति अन्याय और असमानता के विरुद्ध एक हल्की-सी आवाज उठायी थी। किन्तु विद्वान मुसलमानों ने तत्परता से उनकी आवाज दबा दी।

मुस्लिम जागरण की सबसे बड़ी उपलब्धि रही अंग्रेजी शिक्षा। धन्य है सैयद अहमद खाँ जिनके अथक प्रयत्नों ने मुस्लिम पुरुषों तक अंग्रेजी शिक्षा को पहुँचा दिया। वे एक कुशाग्र बुद्धि वाले व्यक्ति थे। यौवन में उन्होंने इस्लाम में सुधार करने का संकल्प किया था और कुरान और हदीस को तर्कयुक्त उदार बुद्धि से नये अर्थ देने की चेष्टा की थी। इस उपलक्ष्य में मौलवियों ने उन्हें काफिर करार दे दिया। सैयद अहमद डर गये। मौलवियों का सामना करने की शक्ति उनमें

नहीं थी। उन्होंने अपना क्षेत्र बदल लिया, शिक्षा को अपना क्षेत्र बनाया और फिर जीवन-भर कुरान को नये अर्थ देने की चेष्टा नहीं की।

मुस्लिम समाज को कट्टरता के निकट लाने के अलावा इस सुधारवादी आन्दोलन का कोई उद्देश्य नहीं था। ईसाइयों और हिन्दुओं के साथ सैकड़ों वर्ष साथ रहने से जो उनमें स्वाभाविक सांस्कृतिक और वैचारिक परिवर्तन आ गये उन्हें निकालकर बाहर फेंक देना उनका उद्देश्य था। मनुष्य के अचेतन में सैकड़ों वर्षों में निर्मित हुए संस्कार और मान्यताएँ इस तरह निकाली जा सकती हैं या नहीं, यह एक मनोवैज्ञानिक प्रश्न है। अहमदिया या कादियानी सम्प्रदाय के प्रवर्तक मिर्जा गुलाम अहमद, जो सूफी हनाफी विचारधारा के निकट थे, सम्भवतः मुस्लिम समाज को विश्वव्यापी नये प्रकाश की ओर ले जाने में महत्वपूर्ण भूमिका अदा कर सकते थे। उनकी मेधा परिपक्व और तर्कयुक्त थी। ईश्वर ने उन्हें एक जन्मजात वक्ता बनाया था। कुछ ही समय में वे मुसलमानों के बीच अत्यन्त प्रिय हो गये थे। किन्तु उन्होंने प्रेरणा के एक दुर्भाग्यग्रस्त क्षण में, अपने आपको पैगम्बर घोषित कर दिया। उन्होंने अपने आपको कृष्ण का अवतार भी घोषित कर दिया। इससे मुस्लिम विद्वानों का कहर उन पर बरस पड़ा। उनके प्रति यह क्रोध उनकी मृत्यु के बाद भी शान्त नहीं हुआ। पाकिस्तान सरकार ने उनके अनुयायियों को मुसलमान मानने से इन्कार कर दिया है। उनके अनुयायी प्रसिद्ध न्यायविद जफरूल्ला खाँ और नोबल पुरस्कार विजेता वैज्ञानिक अब्दुल सलाम उलेमाओं की नजर में हमेशा अपराधी बने रहे हैं। नोबल पुरस्कार प्राप्त कर लेने के बाद अब्दुल सलाम का स्वागत लाहौर विश्वविद्यालय में पत्थरों से हुआ क्योंकि वह कादियानी है। इस्लामी नवजागरण तर्क-वितर्क तक सीमित रहने के साथ, शहरों तक सीमित रहा क्योंकि इस्लामी विद्वान शहरों में रहना पसन्द करते हैं। ग्रामीण मुसलमानों में इन विद्वानों के प्रति तीव्र भय और पूर्ण आत्मसमर्पण का भाव है। ग्रामीण मुस्लिम महिलाएँ गाँव में पर्दा नहीं करतीं लेकिन शहर में इन विद्वानों के भय से बुर्का पहनकर ही प्रवेश करती हैं। यह अवश्य ही एक आश्चर्य का विषय है कि इनकी सख्त ताकीद के बावजूद बंगाल, बंगलादेश और काश्मीरी शहरी मुस्लिम औरतें भी पर्दा नहीं करतीं।

इस नवजागरण का असर भारतीय साहित्य पर भी बहुत गहरा और व्यापक रहा। अंग्रेजी शिक्षा के असर ने साहित्य में अनेक नयी विधाओं को जन्म दिया। अनेकों महान कवियों, उपन्यासकारों और विचारकों का जन्म हुआ जैसे रवीन्द्रनाथ टैगोर, सुब्रह्मण्य भारती और प्रेमचन्द। पुराने जमाने में भी गद्य लेखन का भारतीय भाषाओं में अभाव नहीं था। किन्तु अंग्रेजी ने उपन्यास, कहानी, लेख, और साहित्य आलोचना की नयी विधाएँ उपलब्ध करा दीं। सन 1800 में

छापाखाना भारत में आ गया और इसने विभिन्न भाषाओं के बीच अन्तःक्रिया को बहुत बढ़ा दिया।

भारत में बंगला भाषा सबसे पहले अंग्रेजी के सम्पर्क में आयी। इसके फलस्वरूप महान् उपन्यासकार बंकिमचन्द्र और शरतचन्द्र का प्रादुर्भाव हुआ जिनके उपन्यासों का अनुवाद भारत की सभी भाषाओं में हुआ। वे शिक्षित भारत में घर-घर में पढ़े जाने लगे। बंकिमचन्द्र ने राष्ट्रवाद की प्रेरणा दी। शरतचन्द्र ने जनमानस को नारी के आन्तरिक सौन्दर्य और बाहरी दुर्दशा से परिचित कराया। टैगोर एक नये आकाश की तरह भारत के साहित्य पर छा गये। भारत की विभिन्न भाषाओं के कवि, उपन्यासकार, कहानीकार और लेखक उनसे प्रेरणा पाने लगे। इतना सशक्त साहित्यिक व्यक्तित्व भारत में शताब्दियों से पैदा नहीं हुआ था। उनके काव्य की आध्यात्मिक पवित्रता और भावनात्मक गहराई, उनकी रचनाओं में आत्मा और शरीर का अपूर्व मिलन एक अद्‌भुत उपलब्धि थी जिसका असर भारतीय मस्तिष्क पर बहुत गहरा पड़ा।

लक्ष्मीनाथ बेज बरुआ ने आसामी भाषा में; फकीर मोहन, राधानाथ और मधुसूदन ने उड़िया में; विष्णु चिपलुंकर, तिलक और अगरकर ने मराठी में; नरमद, नरसिंहराव, सूरसिंह जी ने गुजराती में; वेदनायकम पिल्लई, राजम अय्यर सुब्रमण्य भारती ने तमिल में; वीरेशलिंगम, गुरजदा अप्पाराव ने तेलगु में; चासुवप्पा शास्त्री और वी० वर्मा ने मलयालम में अंग्रेजी विधाओं का भारतीयकरण किया। अंग्रेजी विचारधारा से प्रभावित होकर उन्होंने साहित्य का स्वरूप बदल दिया।

उर्दू गद्य गालिब के पत्रों में एक अत्यन्त उत्कृष्ट, धीर गम्भीर, परिहास और पीड़ायुक्त अभिव्यक्ति पा चुका था। किन्तु अलीगढ़ आन्दोलन ने अंग्रेजी शिक्षा से प्रभावित होकर उसे एक नयी जिन्दगी दी। नजीर अहमद ने उर्दू को सबसे पहला उपन्यास दिया और हाली ने आधुनिकता से प्रभावित पहला काव्य। इकबाल इन सब में प्रमुख थे। उनमें दार्शनिक गहराई और सरल अभिव्यक्ति एक आश्चर्यजनक रूप में समन्वित हो गये थे। एक ओर उन्होंने दार्शनिकों के लिए गहन विचारों से भरे काव्य की रचना की दूसरी ओर "लब पे आती है दुआ" जैसी सरल प्रार्थनाएँ स्कूली बच्चों के लिए लिखीं, तीसरी ओर "सारे जहाँ से अच्छा" जैसे देश प्रेम से प्रेरित गीत स्वतन्त्रता सैनिकों को दिये।

इस दौर के एक अन्य महाकवि फिराक ने वर्ड्सवर्थ की शालीनता को उर्दू में उतारा। उन्होंने शेली और कालिदास के प्रकृति प्रेम को पहली बार उर्दू की आत्मा का अंग बनाया। उनका सौन्दर्य बोध सही अर्थों में अन्तर्राष्ट्रीय सौन्दर्य बोध था जिसमें पूर्व और पश्चिम की विविध सौन्दर्यानुभूतियाँ एक हो गयी थीं।

डॉ० सुनीति कुमार चाटुर्ज्या ने हिन्दी और उर्दू को हिन्दुस्तानी भाषा की दो

शैलियाँ कहा है। उर्दू हिन्दी वृक्ष में उग आयी एक टहनी है जिसकी 'लिपि' भिन्न है।

अंग्रेजी भाषा के प्रभाव में हिन्दी भाषा का भी अभूतपूर्व विकास हुआ। प्रसाद ने कामायनी में मानव मन के संघर्ष, नारी और पुरुष के भावना संघर्ष का गहन चित्रण किया। उन्होंने भावनाओं में ही मानव जीवन के अर्थ ढूँढ़ने की चेष्टा की, तप और संन्यास में नहीं। इस महाकाव्य के पीछे स्पष्टतः पश्चिम की उस परम्परा से मिली प्रेरणा है जिसका एक सुन्दर प्रसून गेटे था।

निराला ने छन्दविहीन कविता को पहली बार हिन्दी की एक विधा बनाया। निराला का विषय साधारण लोग थे—पसीने से लथपथ पत्थर कूटती महिला और भिखारी। निराला की भावनाएँ अत्यन्त सशक्त हैं। पूर्ण सच्चाई के साथ, साहित्य को समर्पित व्यक्तित्व ने उनकी लेखनी को एक अद्भुत शक्ति प्रदान कर दी थी। वे आत्मा को चीरकर एक विद्युतप्रभा के उजाले में भारत की निर्धनता और दुर्दशा का दर्शन पाठक को कराने की क्षमता रखते थे। □

महात्मा गांधी और स्वतन्त्रता संग्राम

महात्मा गांधी को अंग्रेज एक शातिर राजनीतिज्ञ समझते थे, एक ढोंगी मसीहा कहते थे जिसके सभी अहिंसक आन्दोलनों का अन्त हिंसा में हुआ, जिसके सभी उपवास ऐन उस मौके पर टूट गये जब मृत्यु दरवाजे पर दिखायी दी। लार्ड वेवेल की नजरों में गांधी एक विद्वेषी, जिद्दी, झूठा, चालाक राजनीतिज्ञ था।

जीवन के अन्तिम दो वर्षों में गांधी जी अत्यन्त निराश और सन्देहग्रस्त हो गये थे। नोआखाली के श्रीरामपुर गांव में सन् 47 में उन्होंने कहा था—"सत्य और अहिंसा जिन्होंने मुझे गत पचास वर्षों तक बल दिया, अब उन गुणों से रिक्त लग रहे है जो मैंने उनमें न देखे थे। मैं यहां एक नया मार्ग ढूंढ़ने आया हूँ।"

गांधी के राम किसी संकीर्ण धर्म के प्रतीक नहीं थे। वे मानव-उदात्तता, तप, संयम, त्याग और सच्चरित्रता के प्रतीक थे। किन्तु, फिर भी धर्म पर उनके धर्म निरपेक्ष आग्रह ने मुसलमानों में उनके प्रति सन्देह को जगा दिया। उन पर यह आरोप लगाया गया कि उनके आने के बाद कांग्रेस पार्टी एक हिन्दू पार्टी बन गयी है। गांधी जी के कांग्रेस में आ जाने पर जिन्ना ने कांग्रेस छोड़ दी। रहमत अली नामक एक कैम्ब्रिज ग्रेजुएट ने पहली बार 28 जनवरी 1933 में पाकिस्तान की योजना प्रस्तुत की। इस योजना को जिन्ना ने बकवास कहकर ठुकरा दिया। उन दिनों जिन्ना राष्ट्रवादी थे। 14 अगस्त 1947 को वही जिन्ना पाकिस्तान के गवर्नर-जनरल की शपथ ले रहे थे और रहमतअली निराश, अकेला, मुसलमानों द्वारा विस्मृत, एक कमरे में पड़ा नवनिर्मित पाकिस्तान के विरोध में एक नया दस्तावेज तैयार कर रहा था क्योंकि यह पाकिस्तान उस पाकिस्तान का उपहास था जो रहमत अली की ख्वाबीदा निगाहें अब देख रही थीं।

गांधी का सम्पूर्ण संघर्ष एक राष्ट्र, एक जाति के लिए था। विभाजन उनके लिए असह्य था। हिन्दू-मुस्लिम एकता के लिए वह कोई भी कीमत देने को तैयार थे। जितना वे इस एकता पर जोर देते उतना ही मुस्लिम लीग के नेताओं में क्रोध भड़कता क्योंकि उनकी विजय की आधारशिला भारत का विभाजन औ

पाकिस्तान का निर्माण था। एकता बनाये रखना बहुत कठिन है। एकता को भंग थोड़े से मूर्ख गुण्डे भी कर सकते हैं—मुस्लिम लीग के नेता यह जानते थे। गांधी के एकता स्वप्न को भंग करने के लिए उन्होंने छुटपुट दंगे कई बार कराये। लेकिन 16 अगस्त 1946 को कलकत्ता में जिस पैमाने पर दंगा उन्होंने भड़काया वह अभूतपूर्व था। जिन्ना ने मुसलमानों को मूल मन्त्र दिया—"या तो हम भारत का बटवारा करा कर रहेंगे या भारत को नष्ट कर देंगे।"

बंगाल के मुस्लिम लीगी नेता सुहरावर्दी ने अपने सर्वोच्च नेता के उपरोक्त मूल मन्त्र का प्रयोग 16 अगस्त 1946 को कर दिया। उसने कुछ मुस्लिम गुण्डों को भड़काकर कुछ निर्दोष हिन्दुओं की हत्या करा दी। इसके बाद जिस पैमाने पर साम्प्रदायिक हत्याकांड कलकत्ते में हुआ उसने ब्रिटिश शासन के उस लक्ष्य को साक्ष्य का बल भी दे दिया कि भारत की समस्या का एक मात्र हल विभाजन है। गांधी की कोई सच्चाई, गांधी की कोई प्रेम विह्वलता, गांधी की कोई त्याग-तत्परता उन्हें फिर अपने निर्णय से नहीं डिगा सकी। उन्हें विभाजन के लिए एक बहाने की जरूरत थी जो उन्हें मिल गया था। कुल 24 घण्टों में कलकत्ते में 6000 लाशें बिछ गयी थीं।

एक वैश्य पिता और जैन माता की सन्तान थे गांधी जी। वे कद में छोटे थे और अत्यन्त लज्जाशील थे। लन्दन में उनका विद्यार्थी जीवन अविशिष्ट रहा था। बम्बई लौटकर उनकी वकालत नहीं चल पायी थी। मई 1893 में वे दक्षिण अफ्रीका एक मुकदमें की पैरवी करने गये। वहाँ उनके साथ रंगभेद और अंग्रेजी अन्याय की कुछ ऐसी घटनाएँ हुईं जिन्होंने उनके भीतर छुपे आध्यात्मिक लौह पुरुष को जगा दिया। वहीं सत्याग्रह का शस्त्र उनकी आत्मा ने उन्हें दिया और वही शस्त्र उन्होंने पीड़ित भारतीयों को पकड़ा दिया। एक जाति के गूंगे-अंधे आक्रोश को शब्द और मार्ग दोनों मिल गये।

अहिंसा और अपरिग्रह में विश्वास उन्हें अपनी माता से रक्त में मिला था। घटनाओं ने इन मन्त्रों की छुपी शक्ति से उनका परिचय कराया। ईसा मसीह, टाल्सटाय और रस्किन के शब्दों में भी उन्हें अहिंसा और अपरिग्रह के मन्त्र मिले। उन्हें विश्वास हो गया था कि वे मन्त्र संसार-भीरु, असफल, कायरों के मन्त्र नहीं थे।

ट्रांसवाल में गांधी को अपनी शक्ति का प्रथम अनुभव हुआ। इन मन्त्रों को धारण करते ही उनमें इतनी शक्ति आ गयी थी कि उनके आह्वान पर सैंकड़ों लोग क्रूर गोरी पुलिस से मार खाने को बढ़ते चले गये। गांधी ने रोमांस के साथ सोचा—ये सैंकड़ों लाखों भी हो सकते है।

9 जनवरी 1915 को जो गांधी अफ्रीका से स्वदेश लौटा वह एक गुमनाम वकील नहीं था। वह एक महात्मा बन चुका था। हजारों की भीड़ उसका स्वागत

करने बम्बई गेटवे पर जमा थी। इसके बाद भारतीय स्वतन्त्रता का इतिहास *गांधी की आध्यात्मिक यात्रा का इतिहास बन गया। सत्य और अहिंसा के लिए* उनकी आत्मा ने मन के अंधेरे से जो संघर्ष किया, जो दुःख, विजय, आत्मिक निर्देश और निराशा उन्हें अन्तर-यात्रा में मिले, वही भारत की स्वतन्त्रता का संघर्ष और इतिहास बन गये।

फोनिक्स आश्रम गांधी ने दक्षिण अफ्रीका में बनाया था। एक ऐसा ही आश्रम भारत लौटने पर उन्होंने साबरमती के तट पर बनाया और उसे अपनी गतिविधियों का केन्द्र बनाया। उनका हृदय हमेशा दरिद्रों के साथ रहा था। बिहार के नील उगाने वाले किसानों का अंग्रेज जमींदारों द्वारा शोषण उनके लिए असह्य हो गया। बम्बई के सूखा पीड़ित किसानों से जबरदस्ती लगान की वसूली उनके लिए दूसरी चुनौती थी। अहमदाबाद के कपड़ा मिल मजदूरों के शोषण ने उनके हृदय को पीड़ा से भर दिया। उन्होंने इन दीन-दुखियों को एक नव नेतृत्व दिया।

प्रथम विश्वयुद्ध में गांधी जी ने अंग्रेजों का साथ दिया था। उनके आह्वान पर वीर भारतीय सैनिकों ने अंग्रेज झण्डे के तले अपने प्राण दिये थे। गांधी जी की नैतिकता को यह गवारा नहीं था कि ऐसे नाजुक समय में अंग्रेजों पर दबाव डाला जाये। उन्हें यह उम्मीद भी थी कि भारतीयों की आकांक्षाओं को मान देंगे। किन्तु अंग्रेज राजनीति को नैतिकता से कभी नहीं मिलाते। 1919 में उन्होंने रौलेट एक्ट पास कर दिया जिससे भारतीयों को लिखने और बोलने की स्वतन्त्रता भी छिन गयी।

गांधी जी बहुत दुखी हुए। कई हफ्तों तक उन्हें इस अन्याय का कोई जवाब नहीं सूझा जो अहिंसामय हो। तब एक दिन स्वप्न में उन्हें उत्तर सूझा। वह उत्तर ऐसा था जैसा उनसे पूर्व किसी को नहीं सूझा था। इस उत्तर ने अंग्रेजों को हतप्रभ कर दिया। उन्हें पहली बार महसूस हुआ कि उनके विरुद्ध खड़े सेनापति के पास कुछ ऐसे मौलिक शस्त्र थे जिनका जवाब उनके पास नहीं था। इस पराजय ने अंग्रेजों को आग बबूला कर दिया। समस्त शालीनता छोड़कर अंग्रेज क्रूरता *सतह पर आ गयी। पराजय के भय ने उन्हें नृशंस बना दिया और सबक सिखाने* के लिए उन्होंने निहत्थे भारतीयों को जलियांवाला बाग दिया। जिस कुरुक्षेत्र में गांधी ने अंग्रेजों को ललकारा था वह धैर्य और संयम का, तप और अहिंसा का कुरुक्षेत्र था। इस मैदान में लड़ने में भारतीयों का कोई सानी नहीं है। अंग्रेज इस तरह की लड़ाई नहीं लड़ना जानते थे जबकि भारतीय यह लड़ाई अशोक के जमाने में भी लड़ चुके थे। गांधी ने उन पुराने शस्त्रों को एक नया रूप दिया जो तुरन्त भारतीयों की समझ में आ गया। इस तरह के युद्ध को समझने की उनमें एक जातिगत प्रतिभा है जो विश्व की किसी जाति में नहीं है। गांधी ने एक के बाद एक नये मोर्चे खोल दिये—हड़ताल, असहयोग, सत्याग्रह। अंग्रेज सभी मोर्चों पर

हारने लगे। पराजय को शालीनता के साथ राजा पुरू की तरह स्वीकार करना अंग्रेज नहीं जानते। पराजय में उनका सर्वाधिक कुरूप चेहरा उभर कर सामने आता है। अतः हर हार के साथ उन्होंने कुछ ऐसे क्रूर और अमानवीय कृत्य किये कि कुछ ही वर्षों में साम्राज्यवाद को विश्व जनमानस की अदालत में अपराधी बनकर उपस्थित होना पड़ गया।

गांधी की रणनीति असाधारण रूप से साधारण थी। उनका सम्वाद सीधा जनता से था। उनका आदेश इतना छोटा और सरल था कि एक मजदूर या एक किसान भी उसे सरलता से समझ लेता था। रौलेट एक्ट के जवाब में जो रास्ता उन्हें स्वप्न में सूझा था वह था हड़ताल। पूरा भारत उनके एक इशारे पर 7 अप्रैल 1919 को रुक गया। दुकानें एक साथ बन्द हो गयीं, स्कूल खाली हो गये। अंग्रेज भारतीयों की आवाज नहीं सुनना चाहते थे। गांधी ने उन्हें भारतीयों के मौन की भाषा सुनने को बाध्य कर दिया।

इसका बदला अंग्रेजों ने एक अत्यन्त ही फुहड़ और मूर्खतापूर्ण कर्म से लिया। जनरल डायर ने 13 अप्रैल 1919 को जलियांवाला बाग में एकत्रित निहत्थे भारतीयों पर 1650 राउण्ड गोलियों के दाग दिये। उसका विचार था यह एक 'अच्छा' सबक रहेगा भारतीयों को जिसे उन्हें याद नहीं करना पड़ेगा। उनके आतंकित-स्तम्भित वक्ष पर यह आप ही अंगारों की तरह चिपका रहेगा।

भारतीय चरित्र की एक और खूबी है जो इतिहास के मर्मज्ञ अंग्रेज न जाने कैसे चूक गये। जुल्म और क्रूरता से उनका दमन नहीं होता बल्कि छँटायी के बाद फलदार वृक्षों की तरह वे और फूलते और फलते हैं। हां, इन जुल्मों ने भारतीय जनता को यह ज्ञान जरूर सुलभ करा दिया कि जिस शालीनता और न्यायप्रियता के दर्शन उन्होंने अंग्रेजों में किये थे वह उनका चेहरा नहीं मुखौटा था। भारतीय जनमानस जान गया था कि भीतर से अंग्रेज आत्मा एक कायर, अपरिपक्व, धर्म-विहीन और निर्दयी आत्मा है। जलियांवाला बाग के साथ .अंग्रेजों और भारतीयों के बीच जो दरार पड़ी वह फिर कभी नहीं भर सकी। भारतीय जनजीवन कुछ इस तरह का है कि इसके सम्पर्क में आने वाली किसी भी जाति का असली चरित्र इससे छुपा नहीं रहता। इसे विधाता ने इतना कवचहीन बनाया है कि एक कायर जाति इसकी निरीहता पर वार करने का लोभ संवरण नहीं कर सकती। भारतीय जनमानस यह जान गया कि अंग्रेज साम्राज्यवादियों का चरित्र-वृक्ष भी उसी बीज से जन्मा है जिससे जन्मे कुछ आदमखोर कबीले बीहड़ों में छुपकर रहते हैं।

ब्रिगेडियर डायर के नरभक्षी कृत्य की निन्दा करने की बजाय, भारत में बसे अंग्रेजों ने उसकी वीरता और सूझबूझ की जी-जान से प्रशसा की। क्लबों में मिटिंग हुई उसकी मदद के लिए, क्योंकि उसे नौकरी से हटा दिया गया था। गोरों ने

चन्दा किया। 26000 पौण्ड (लगभग चार लाख रुपये) आज के लगभग दो करोड़ रुपये, चन्दा करके उसे भेंट में दिये गये।

जलियाँवाला बाग के बाद ब्रिटिश राज्य को समूल उखाड़ना गांधी का चाणक्य-धर्म बन गया। 1920 के कलकत्ता अधिवेशन में गांधी ने एक दूसरा उतना ही सरल महामन्त्र दिया—असहयोग। उनके आने के साथ कांग्रेस का बुद्धिजीवियों तक सीमित रहा आन्दोलन तेजी के साथ जन-आन्दोलन बनने लगा। गांधी ने आह्वान किया—अंग्रेजों का बहिष्कार करो। विद्यार्थी अंग्रेजी स्कूलों का बहिष्कार करें, वकील अंग्रेजी अदालतों का, सैनिक अंग्रेज तगमों का, मजदूर अंग्रेज नौकरियों का। गांधी ने घोषणा की कि अब स्वराज उनका लक्ष्य है। इस आह्वान पर मोतीलाल नेहरू, डॉ० राजेन्द्र प्रसाद और देशबन्धु चितरंजन दास जैसे प्रसिद्ध वकीलों ने वकालत छोड़ दी।

गांधी ने ब्रिटिश आर्थिक तन्त्र पर भी प्रहार किया जो साम्राज्यवाद का मेरुदण्ड था। अंग्रेज भारतीय रूई कौड़ियों के भाव खरीदकर इंग्लैण्ड ले जाते थे और उससे कपड़ा बनाकर बहुत ऊँचे दामों पर भारत में बेच देते थे। किसी और देश का कपड़ा भारत में बिकने नहीं देते थे। यही वह साम्राज्यवादी चक्र था जो भारत को नग्न और इंग्लैण्ड को मालामाल कर रहा था। गांधी ने इस आर्थिक चक्र को तोड़ा, लकड़ी के मामूली से चर्खे से। गांधी ने कहा—सूत कातो और उसी का कपड़ा पहनो। विदेशी माल का बहिष्कार करो। यह एक बड़ी सूझबूझ वाला आघात था। एक छुपे पाप को, शोषण के घृणित पाप को, अंग्रेज चेहरों की लाली के ऊपर निखार लाया वह आघात। क्रोध और आतंक ने अंग्रेजों को उन्मत्त कर दिया। चर्खे पर उन्हें सूत नहीं ब्रिटिश साम्राज्यवाद की आत्मा कतती नजर आने लगी।

असहयोग आन्दोलन को अंग्रेजों ने जिस बेरहमी से कुचला उसने गांधी को द्रवित कर दिया। अपने निहत्थे देशवासियों का यह नरसंहार उनसे देखा नहीं गया। उन्होंने आन्दोलन स्थगित कर दिया। 1921 के अहमदाबाद अधिवेशन में उन्होंने एक नया नारा दिया।—सविनय-अवज्ञा। उन्होंने रणनीति भी बदल दी थी। पूरे भारत में इसे एक साथ लागू करने की बजाय उन्होंने सिर्फ बारदोली में इसे आजमाने की घोषणा की। पटेल को बारदोली का सरदार बनाकर बारदोली के किसानों के बीच भेजा।

सरदार के नेतृत्व में किसानों ने लगान देने से इन्कार कर दिया। यह आन्दोलन सफल रहा और अंग्रेजों को झुकना पड़ा लेकिन तभी चौरीचौरा में जनता ने 22 सिपाहियों को मार दिया।

गांधी जी भारत की जनता को बतलाना चाहते थे कि उसकी शक्ति हिंसा में नहीं अहिंसा में है। उन्होंने यह आन्दोलन भी, उस समय जब वह विजय के

मुख्य द्वार पर पहुँच चुके थे, स्थगित कर दिया। उन्हें हर कीमत पर जीत नहीं चाहिये थी। उन्हें केवल वह जीत चाहिए थी जो अहिंसा के मार्ग पर मिली हो।

अंग्रेजों ने गांधी की इस नैतिकता का बदला दूसरी अनैतिक चाल से दिया। उन्होंने मुसलमानों को भड़काना शुरू कर दिया। 1923 में साम्प्रदायिक दंगे अंग्रेजों की नियोजित नीति के अनुसार देश भर में भड़क उठे। इन्हीं दंगों को शान्त करने की कोशिश में कानपुर के गणेश शंकर विद्यार्थी को अपने प्राणों की आहुति देनी पड़ी। एक जगह रुकते तो दूसरी जगह भड़क जाते। खिलाफत आन्दोलन में मुसलमानों का साथ देकर गांधी ने हिन्दू-मुस्लिम एकता के जो बीज बोये थे वे जलने लगे। मुस्लिम-लीग का प्रभाव बढ़ने लगा। कांग्रेस ने इस तथ्य को कभी स्वीकार नहीं किया और यही जिद इसके असाम्प्रदायिक आदर्श की असफलता का मूल कारण रही। कांग्रेस मौलाना आजाद, गफ्फार खान, अली बन्धुओं को ही मुसलमानों का असली नेता समझती रही। किन्तु सत्य यह था कि उनके साथ मुसलमानों का जनसमूह नहीं था। मुसलमान एकमत होकर जिन्ना के पीछे इकट्ठे हो रहे थे। मुस्लिम प्रेम के भावना-लोक में बसे गांधी को एक ऐसा आघात देने की तैयारी हो रही थी जो उनके अन्तिम दिनों को निराशा, संशय और अनवरत वेदना के अंधेरे से भरने वाला था।

साईमन कमीशन भारतीय मांगों पर गौर करने भारत आया। इसके सभी सदस्य अंग्रेज थे। इसका बहिष्कार कांग्रेस और मुस्लिम लीग ने किया। इसका विरोध करते हुए लाला लाजपत राय पर पुलिस ने लाठियों की निर्मम बौछार कर दी। वे शहीद हो गये। उनके बलिदान ने स्वराज के नारे को जनरल के होंठों तक पहुँचा दिया। 1928 में जिन्ना और कांग्रेस के बीच वार्ताओं का दौर शुरू हुआ जो असफल हो गया क्योंकि जिन्ना ने जो मांगें रखीं वे हिन्दू-मुस्लिम एकता की जड़ों को काट रही थीं। दूरी बढ़ती गयी और तब जिन्ना ने खुलकर पाकिस्तान मांगना शुरू कर दिया।

31 दिसम्बर 1929 को आधी रात को, लाहौर में, कांग्रेस ने पूर्ण स्वराज को अपना ध्येय बना लिया। इस अधिवेशन के अध्यक्ष जवाहरलाल नेहरू थे। यह कदम गांधी के कदम से एक कदम आगे था। कांग्रेस के गरम और नरम दलों के बीच मतभेद चरम शिखर पर आ गया। गांधी ने वक्त की नजाकत को पहचाना और युवा आकांक्षाओं का तिरस्कार करने की बजाय उसे अपने वृद्ध अनुभवों का सहारा दिया। उन्होंने कांग्रेस के अगले कदम को पूर्ण स्वराज की राह पर मोड़ दिया।

और तब डांडी मार्च शुरू हुआ। यह गांधी की मौलिक प्रतिभा का एक नया अचम्भित करने वाला नमूना था। इस बार वस्त्र नहीं भोजन उनके आन्दोलन का केन्द्र बना—वह नमक जो सभी मनुष्य खाते हैं। अंग्रेजों ने नमक पर टैक्स लगाया

था । गांधी ने इस टैक्स का विरोध करने के लिए नमक अपने हाथों से बनाने का निर्णय किया और डांडी-ग्राम की ओर उनकी ऐतिहासिक पद-यात्रा शुरू हुई । देखने में यह एक मामूली बात थी—नमक बनाना । किन्तु इसमें छुपी थी एक सरल किन्तु तिलमिला देने वाली चुनौती ब्रिटिश सत्तामद को । डांडी पद-यात्रा में गांव-गांव से गुजरता हुआ गांधी का वह मौन प्रतिज्ञाबद्ध कारवां उद्घोष कर रहा था—यह नमक हमारा है, यह समुद्र हमारा है, यह धरती हमारी है । फिर ये नियम बनाने वाले अंग्रेज कौन है ?

विश्व भर के अखबारों ने इस अद्भुत प्रयोग की ओर अपने मुख्य पृष्ठ भर दिये । विश्व के कोने-कोने से संवाददाता एक अधनंगे फकीर के इस जादू को देखने दौड़ पड़े । 12 मार्च 1930 को सवेरे 6.30 बजे शुरू होने वाली डांडी मार्च, 241 मील लम्बी पद-यात्रा, विश्व प्रसिद्ध हो गयी । इस प्रचार से अंग्रेज बौखला उठे । उन्होंने, एक सरकारी खबर के अनुसार, 600 भारतीयों की हत्या कर दी और 60,000 को जेलों में डाल दिया । गांधी जी उनमें एक थे । उन्हें यरवदा जेल मिली । गांधी को कटु अनुभव ने सिखा दिया था—आजादी जेलों में मिलती है, फांसी के फन्दों में मिलती है, कान्फ्रेंसों में नहीं ।

विश्वयुद्ध से टूटे हारे, मन्दी और बेरोजगारी से त्रस्त, यूरोप के लाखों लोग गांधी की ओर कौतूहल से देखने लगे । यह व्यक्ति ईसा मसीह की वाणी बोल रहा था । चर्चिल की नजरों में गांधी अब भी एक अधपढ़ा, अंग्रेजी शिक्षा का दुरुपयोग करने वाला, फकीर था । मगर यूरोप और अमेरिका के लोग उससे सहमत नहीं थे । अंग्रेज सरकार भारतीयों की भावनाओं की उपेक्षा कर सकती थी किन्तु यूरोप और अमेरिका की जनता की भावनाओं की उपेक्षा···? यथार्थ का दामन अंग्रेज हाथों से छूटा जा रहा था ।

गांधी को जेल से मुक्त कर वायसराय ने वार्ता हेतु बुलाया । गांधी-इर्विन समझौता एक नजर से अत्यन्त महत्वपूर्ण मोड़ है आजादी की लड़ाई का और वह है इसकी भाषा । इसकी भाषा ऐसी थी जैसी दो स्वतन्त्र राष्ट्रों के राष्ट्र नायकों के बीच हुए समझौते की होती है । चर्चिल जिस बात पर नाराज था कि एक अधनंगा, अधपढ़ा फकीर वायसराय से बराबरी जता रहा है, वह बराबरी स्वयं ब्रिटिश सरकार उसे देने को बाध्य हो गयी थी ।

इसके बाद गोल मेज-कान्फ्रेंस के लिए गांधी लन्दन गये । यह कान्फ्रेंस असफल रही किन्तु प्रचार की दृष्टि से यह गांधी का यूरोप की धरती पर सफलतम अभियान था । शुरू से इसने पश्चिमी दुनिया का ध्यान खींचा । यह कैसा पुरुष था जो अंग्रेज बादशाह से उसी अधनंगी मुद्रा में मिलने की जिद कर रहा था जिसका उपहास अंग्रेज बादशाह के परम विश्वासपात्र चर्चिल ने उड़ाया था ? एक फकीर का यह कैसा परिहास था जो पहली बार अंग्रेजी परिहास पर हावी हुआ जा रहा था ? इंग्लैण्ड में चर्चिल ने गांधी से मिलने से इन्कार कर दिया तो

क्या ? वापस लौटते हुए पेरिस, स्विट्‌जरलैण्ड, और इटली के हजारों-हजारों लोग उन्हें देखने जमा हुए। कुछ बुद्धिजीवियों व कलाकारों, जार्ज बर्नार्ड शा, हैराल्ड लास्की, रोमा रोला, आइंस्टीन और चार्ली चैप्लिन से गांधी मिले और उनकी सहानुभूति भारत के लिए प्राप्त की। गांधी जानते थे कि राजनीतिज्ञों की आवाज तेज जरूर होती है मगर देर तक रुकने वाली, गूंजने वाली आवाज बुद्धिजीवियों और कलाकारों की होती है। यूरोप जानने लगा कि सभ्य इंग्लैण्ड भारत में कौन सी सभ्यता का प्रसार कर रहा है। चर्चिल के उत्कृष्ट मुहावरे अब और गांधी के देश की नग्नता को नहीं ढक सकते थे।

किसी ने गांधी से पूछा "आप सम्राट से मिलने नंगे क्यों गये ?" गांधी का उत्तर था : "सम्राट ने जो वस्त्र पहन रखे थे वह हम दोनों के लिए काफी थे।"

यह चार्ली चैप्लिन वाला अन्दाज था एक सच्चाई को व्यक्त करने का। युद्ध के बाद का जर्जर यूरोप इस अन्दाज को खूब पहचानने लगा था। दरिद्रता का अनुभव उसे भी होने लगा था। दरिद्रता की भाषा समझने योग्य सहृदयता उसमें जग चुकी थी।

किन्तु भारत लौटकर गांधी ने अपनी निरस्त्र करती सादगी के साथ अपने लन्दन प्रवास की असफलता की घोषणा की—"मैं खाली हाथ वापस आया हूँ।" इसके मायने थे—आन्दोलन जारी रखना है—असहयोग, सविनय अवज्ञा, सत्याग्रह, चरखा। वायसराय ने उन्हें फिर से यरवदा जेल में बन्द कर दिया।

गांधी के अगले तीन वर्ष कभी जेल में, कभी जेल के बाहर, इस तरह कटे। चाहे जेल में हों चाहे जेल के बाहर, गांधी की हस्ती को अब अंग्रेज नजर अन्दाज नहीं कर सकते थे।

तब 1935 का अधिनियम आया। इसमें भारतीयों को अधिक अधिकार दिये गये थे। कांग्रेस ने आन्दोलन स्थगित कर दिया। चुनाव हुए। सिद्धान्ततः कांग्रेस साम्प्रदायिक राजनीति के विरुद्ध थी। अतः उसने प्रान्तों में मुस्लिम लीग के साथ मिली-जुली सरकार बनाने से इन्कार कर दिया।

लेकिन यह एक कटु यथार्थ था कि मुसलमानों का बहुमत गांधी को नहीं जिन्ना को अपना नेता मान चुका था। गांधी इस यथार्थ को अपने महान आदर्शों से मिटा देना चाहते थे किन्तु यथार्थ कभी इस तरह नहीं मिटते। इस तरह महानता तो प्राप्त की जा सकती है किन्तु यथार्थ नहीं मिटाये जा सकते। यथार्थ यथार्थ से ही मिटते हैं।

सात प्रान्तों में कांग्रेस की सरकार बनी, जिसे जिन्ना ने हिन्दू सरकार कहा। यद्यपि सभी प्रान्तों में एक सी नीति लागू करने के लिए केन्द्रीय पार्लियामेण्टरी बोर्ड था तथापि कांग्रेस की मुस्लिम समस्या पर अयथार्थवादी नीति ने जिन्ना को मुसलमानों का एक छत्र नेता बना दिया। वह खुलकर मुस्लिम भावनाओं की आग से खेलने लगा। □

गांधी का मिटता असर

इसके बाद गांधी की राजनैतिक यात्रा का सूरज अस्ताचल की ओर बढ़ने लगा। इसके आगे गांधी की यात्रा अकेली और आध्यात्मिक होती चली गयी। उनके अनुयायियों में एक सशक्त वर्ग उन लोगों का उभर कर आ गया जो उनके विचारों को आध्यात्मिक विकास के लिए उत्कृष्ट किन्तु राजनीति के लिए अव्यवहारिक मानने लगा। इस गरम खून के नायक थे सुभाष चन्द्र बोस। वे अंग्रेजों के साथ किसी तरह का सहयोग नहीं चाहते थे। वे हिंसा के लिए भी तैयार थे। वे खून देकर आजादी लेना चाहते थे। फिर दूसरा विश्व युद्ध आया। मोर्चे के बाद मोर्चे पर हिटलर ब्रिटेन को हरा रहा था। गरम खून वाले नेताओं का कहना था यही वक्त है अंग्रेजों को झुकाने का। गांधी को यह मंजूर नहीं था कि अंग्रेजों की मुसीबत का लाभ उठाया जाये।

सुभाष चन्द्र बोस गांधी की इच्छा के विरुद्ध, उनके उम्मीदवार पट्टाभि सीतारमैया को हराकर, कांग्रेस के सभापति बने। सुभाष को रवीन्द्रनाथ टैगोर का समर्थन प्राप्त था। टैगोर चाहते थे कि नेहरू भी सुभाष का समर्थन करें। नेहरू अपने को बौद्धिक रूप से टैगोर के अधिक निकट महसूस करते थे। किन्तु गांधी उनके राजनैतिक गुरु थे। उन्हें गुरुदेव का सुभाष की पैरवी करना अच्छा नहीं लगा।

सीतारमैया की हार को गांधी ने अपनी हार माना। सुभाष ने नेतृत्व छीना था। लेकिन अभी तक भारत की राजनीति का नायक गांधी था। गांधी के राज में नेतृत्व छीना नहीं जा सकता था, केवल उपहार में प्राप्त किया जा सकता था। नेतृत्व छीन कर सुभाष सफल न हो सके। वह अपनी कार्यकारिणी तक नहीं बना सके और अप्रैल 1939 में उन्हें त्यागपत्र देना पड़ा।

अक्टूबर 1939 में आठ प्रान्तों में कांग्रेस सरकार ने इस्तीफा दे दिया क्योंकि वायसराय ने बिना उनसे पूछे भारत की ओर से युद्ध की घोषणा कर दी। इन प्रान्तों में गवर्नरों ने इमरजेन्सी घोषित कर सारी शक्ति बटोर ली। 1946 तक गवर्नरों का ही शासन चला। बंगाल, सिन्ध और पंजाब में कांग्रेस की नहीं, मुस्लिम

लीग की सरकार थी। उन्होंने त्यागपत्र नहीं दिये। वहां वे सरकारें सन् 1946 तक चलती रहीं।

कांग्रेस ने खुलकर हिटलर की भर्त्सना की। गांधी ने यहां तक कहा कि "यदि कभी किसी सत्ता के विरुद्ध युद्ध जायज था तो वह सत्ता हिटलर की सत्ता है।" मगर आपत्ति इस बात पर थी कि युद्ध जैसे महत्वपूर्ण विषय पर भी भारत को निर्णय करने का अधिकार नहीं दिया गया था। वह निर्णय भी स्वयं अंग्रेजों ने कर लिया था।

अंग्रेजों के इस रवैये ने गांधी के अंग्रेजों का साथ देने के इरादे को कमजोर कर दिया। कांग्रेस जनों को विश्वास हो गया कि सुभाष सत्य के अधिक निकट है। सुभाष का कहना था : "अंग्रेजों की परेशानी हमारे लिए सुअवसर है।" गांधी ने एक अन्तिम कोशिश की। उन्होंने कहा कि बस अंग्रेज यह वायदा कर ले कि युद्ध के बाद भारत को आजाद कर देंगे। चर्चिल ने मांग ठुकरा दी। कांग्रेस तेजी से गरम दल की ओर बढ़ने लगी। गांधी के राजनैतिक शस्त्र समाप्त हो चुके थे। 8 अगस्त 1942 को उन्होंने कहा—"मुझे आज यदि सम्भव हो तो इसी समय आजादी चाहिए।" उन्होंने दो नारे दिये : "भारत छोड़ो" और "करो या मरो"। इन दोनों नारों में गरम दल का असर स्पष्टतः देखा जा सकता है।

अंग्रेज द्वितीय विश्वयुद्ध से त्रस्त थे। उन्हें "करो या मरो" में पूर्ण क्रान्ति नजर आयी। उन्हें बहाना मिल गया और उन्होंने गांधी और कांग्रेस के सभी प्रमुख नेताओं को गिरफ्तार कर लिया। सन् 1942 का आन्दोलन नेतृत्वहीन हो गया। गरम दल के युवक देश में जगह-जगह विध्वंसकारी कर्मों में लग गये। रेलों की पटरियाँ उखाड़ी जाने लगीं, सरकारी खजाने लूटे गये, इमारतों में आग लगायी गयी। अंग्रेजों को फिर एक बार निर्ममता से दमन करने का मौका मिल गया।

उधर सुभाष चन्द्र बोस जापानियों के सहयोग से रंगून तक भारतीय आजाद हिन्द फौज को लेकर आ गये। वे भारत के करोड़ों जोशीले युवकों की आशा के प्रतीक बन गये। सेना में हुआ ये आंशिक विद्रोह भयानक था। अंग्रेज जानते थे कि इसके भयानक दुष्परिणाम निकल सकते है। यदि वह मचलती युवा शक्ति; ये क्रान्तिकारी आजादी के दीवाने और सुभाष चन्द्र बोस मिल गये तो जो 1857 में होते-होते रह गया था वह हो जायेगा। अंग्रेजों का भारत में नामोनिशान भी नही रहेगा। अंग्रेज डर गये। उन्होंने पहचाना कि गांधी को जेल में डालकर उन्होंने अदूरदर्शिता की है।

किन्तु यह अदूरदर्शिता अंग्रेज साम्राज्यवादी नीति का अंग बन चुकी थी। इससे अंग्रेज निकल नहीं सके और अन्त में इस नीति के कारण ही उन्हें जल्दबाजी में भारत छोड़ना पड़ा। अंग्रेजों की सबसे बड़ी भूल थी गांधी के समस्त अहिंसामय

आन्दोलनों के जवाब में हिंसा का प्रयोग। इस नीति ने हजारों युवकों को शान्ति का पथ छोड़ क्रान्तिकारी बना दिया। उन्हें गांधी के नेतृत्व से आशा नहीं रही। प्रथम विश्वयुद्ध के बाद अंग्रेज भारत में तेजी से बढ़ती स्वतन्त्रता की मांग को देख रहे थे और बार-बार उन्हें इससे समझौता करना पड़ रहा था। स्वतन्त्रता की इस मांग को पूरी तरह से दबा देने की उम्मीद उनके बड़े से बड़े साम्राज्यवादी प्रशासक भी नहीं कर रहे थे। उस समय के गवर्नरों और कलक्टरों की रिपोर्टों में जगह-जगह लिखा है कि हम ज्यादा से ज्यादा पच्चीस तीस वर्ष और भारत को गुलाम रख सकते है, उससे अधिक नहीं। उधर गांधी मांग भी कुछ ज्यादा नहीं रहे थे। पूर्ण स्वतन्त्रता का नारा तो बहुत बाद में आया। अंग्रेजों के शासन के ही अन्तर्गत गांधी डोमिनियन स्टेट्स चाहते थे। प्रशासनिक सूझबूझ का तकाज़ा था कि अंग्रेज गांधी के अनुयायियों के साथ हिंसा से पेश न आते, उनकी आशाएँ न तोड़ते, छोटी-छोटी रियासतें देते रहते, देरी की नीति अपनाते क्योंकि वे स्वतन्त्रता को रोक नहीं सकते थे, उसे टाल सकते थे, देर कर सकते थे। उनके सर्वाधिक हित में था सौहार्द और मैत्रीपूर्ण वातावरण तथा देरी की नीति। किन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि यथार्थवाद, जो अंग्रेज प्रभुता का मेरुदण्ड रहा था, इस मोड़ पर आकर अंग्रेजों की पकड़ से निकल चुका था। साम्राज्य के टूट जाने के भय ने उनकी मति को विभ्रमित कर दिया था। अंग्रेज नीति एक निर्दिष्ट, संगठित पथ पर चलने की बजाय, अंग्रेज अफसरों की व्यक्तिगत कुण्ठा, अभिमान और मूढ़ता की शिकार हो गयी। जिलों में अंग्रेज कलेक्टर नये-नये प्रयोग करने लगे जिनकी क्षणिक सफलता से मोहित होकर लन्दन में बैठी ब्रिटिश सरकार ने उन प्रयोगों को मान्यता देनी शुरू कर दी और उन्हें अपनी व्यापक नीति का अंग बना लिया। इन प्रयोगों में अन्याय था। इनमें जनता को बरबस भड़काने वाले ऐसे प्रयोग भी थे जैसे विद्रोही पुत्र के न पकड़े जाने पर उसके पिता व उसके सम्बन्धियों को सजा देना। इस मौलिक मूढ़ प्रशासन का एक अन्य नमूना था— उन गांवों और शहरों पर सामूहिक जुर्माना करना जो अंग्रेजों को सत्याग्रहियों का सुराग नहीं देते थे। संस्थाओं और व्यक्तियों की सम्पत्ति जब्त कर लेना, मार्शल लॉ प्रशासकों, जैसे डायर, द्वारा बिना अंग्रेज सरकार से अनुमति लिये भयंकर निर्णय ले लेना भी इसके नमूने थे।

नौजवान भड़क उठे। उन्होंने उस अंग्रेज अफसर को अपने हाथों से मार डाला जिसने लाला लाजपत राय पर अकारण लाठियों की निर्मम वर्षा करायी थी। सरदार भगत सिंह और बटुकेश्वर दत्त ने एसेम्बली में आवाज का नकली बम फोड़कर अंग्रेजों को अपनी नीति संयमित करने का एक मैत्रीपूर्ण संकेत दिया था। उनका इरादा हिंसा का होता तो वे केवल आवाज करने वाला बम न फेंकते। उधर यतीन्द्रनाथ दास ने जेल में भूख हड़ताल सिर्फ इसलिए की थी कि कैदियों के

साथ अमानुषिक व्यवहार न किया जाय। किन्तु भय-ग्रस्त स्थानीय अंग्रेज अफसर अपनी निजी सुरक्षा के आगे इंग्लैण्ड के हित को भूल गये। उन्हें इन युवकों की हर मामूली कार्यवाही में कलकत्ते का काला कुआँ और कानपुर की काल-कोठरी दीखने लगे। उनके मामूली से जोश को भी इस मुस्तैदी से कुचला जैसे मनुष्य आधी रात में सर्प को देखकर कुचलता है। खुदीराम बोस, चन्द्रशेखर आजाद, रामप्रसाद बिस्मिल, अशफाकुल्ला आदि अनेक स्वाभिमानी युवकों को कानूनी दृष्टि से मामूली अपराधों के बदले में फाँसी दे दी गयी। भगतसिंह को दी गयी फाँसी अंग्रेज अफसरों के भय और कायरता का अपूर्व प्रमाण थी। उधर यतीन्द्रनाथ ने बासठ दिन भूखे रहकर प्राण दे दिये।

स्थानीय अंग्रेज प्रशासन की उग्र नीति, भय प्रेरित नृशंसता, अन्याय और उद्दण्डता ने नौजवानों को पूरी तरह जवान उमंगों के हवाले कर दिया। अंग्रेजों के क्रूर कर्मों ने नौजवानों में जगी इस लौ को खूब हवा दी। अंग्रेज भारतीयों की जौहर प्रथा को अनजाने में ललकार बैठे थे। भारतीयों की दया, शान्तिप्रियता और विनम्रता को उन्होंने कायर, भयभीत आँखों से देखना शुरू कर दिया था। भयभीत आँखों को ये सारे गुण कायरता नजर आने लगे थे। उन्होंने इसे कायरता समझ जुल्म से कुचल देना चाहा। किन्तु यह जौहर निकला। जिस आग को अंग्रेज ने बूट से कुचलना चाहा था उस आग ने बूट को ही पकड़ लिया। वह आग टाँगों के सहारे ऊपर चढ़ी और देखते-देखते रावण के पुतले की तरह अंग्रेज प्रशासन जलने लगा। ब्रिटिश अभिमान स्वयं अंग्रेज अफसरों की दूरदर्शिता के कारण एक भद्दी गाथा बनकर रह गया—आज दमन, कल वायसराय का कोई नया समझौता, आज बेहद अकड़, कल झुक जाना। इससे ब्रिटिश शासन हास्यप्रद होता चला गया।

ब्रिटिश नीति की दूसरी जबरदस्त भूल थी—फूट डालकर शासन करने की नीति में अन्धविश्वास। इस नीति ने अंग्रेजों की मदद की थी निस्सन्देह। किन्तु हर नीति की तरह इसमें भी आई० सी० एस० का एक अन्धविश्वास हो गया था। इसका उपयोग वे हर मौके पर करने लगे थे। उन्हें यह अन्धविश्वास हो गया था कि इसका उपयोग जहाँ भी किया जाये हमेशा अंग्रेजों के हित में रहेगा। यह अन्धविश्वास अंग्रेजों पर इस तरह हावी हो गया था कि वे यह नहीं देख सके कि इस नीति के अन्धानुकरण ने उनकी छवि को बहुत भद्दा बना दिया था। उनके प्रशासन से जनहित, मानवहित, सत्य और न्याय की नींव को उखाड़ कर फेंक दिया था। वे यह भी नहीं देख सके कि इस नीति से भारत को तो हानि हो रही थी किन्तु इंग्लैण्ड को कोई लाभ नहीं पहुँच रहा था। इतने प्रशासनिक अनुभव के बाद भी वे यह सिद्धान्त भूल गये थे : कि हमारी कोई भी प्रशासनिक नीति जो हमें लाभ न पहुँचा रही हो अवश्य ही हमें हानि पहुँचा रही होती है। यह नीति जिसने आरम्भ

में उन्हें आनन्द और उत्सव के अवसर दिये थे, अब उन्हें झूठा, मक्कार, मन्थरापुत्र, दो जीभवाला, नकाबपोश साबित कर रही थी।

अब वे इस नीति पर नहीं चल रहे थे, यह नीति उन्हें अपने पीछे खींच रही थी। वे विवश थे। उन्हें आदत पड़ चुकी थी। उन्होंने इस नीति के शिकंजे से निकलने की कोशिश की, विशेषकर विभाजन के समय, मगर सफल न हो सके। उनकी ऐसी कोशिशें उनके लिए और भी दुखःदायी साबित हुईं। कांग्रेस उन्हें लीग की तरफदारी करने का दोष देने लगी और लीग कांग्रेस की तरफदारी का। 1935 का गवर्नमेण्ट आफ इण्डिया एक्ट और क्रिप्स मिशन इसके जीवन्त उदाहरण हैं।

निरुद्देश्य फूट, फूट के लिए—इस भँवर में ब्रिटिश शासन पड़ गया था। इसका फल यह हुआ कि मानवता का एक महान यज्ञ, गांधी का यह मानव गरिमा को प्रतिष्ठित करने का अभूतपूर्व कर्म, अधूरा रह गया। आज पूरी दुनिया यह कहती है, अंग्रेज भी कहते हैं, कि इस यज्ञ की सफलता में मनुष्यता की विजय निहित थी। जब-जब इन्सानियत ने प्रेम और बन्धुत्व का मन्दिर बनाया उसे इन्सानों ने ही, कभी भाई बनकर, कभी साझीदार बनकर, कभी हुक्मरान बनकर तोड़ दिया। ईसा मसीह ने ऐसा ही मन्दिर बनाना चाहा था जिसे उसके तेरहवें अनुयायी ने तोड़ दिया। जूडा की वही अगौरवशाली भूमिका एक के बाद एक अंग्रेज वायसराय को मिलती चली गयी।

अंग्रेज किसी और उद्देश्य में सफल हुए या नहीं, गांधी के हाथों से नेतृत्व छीन लेने में जरूर सफल हो गये। यों तो गांधी अपनी मृत्यु तक भारत के सर्वोपरि नेता बने रहे किन्तु वास्तविक नेतृत्व उनके हाथों से छिनना उस दिन से शुरू हो गया था जिस दिन जिन्ना ने पाकिस्तान की माँग पेश की थी। मुसलमान उनसे अलग होते चले गये। युवा वर्ग सुभाषचन्द्र बोस के साथ उनसे अलग हो गया। अन्त तक पहुँचते-पहुँचते स्वयं नेहरू और पटेल भी उनकी नीति को छोड़ बैठे।

इसके कई कारण थे—

1. गांधी की उदात्त भावनाओं को अंग्रेजों ने अपनी नीच नीति से कुण्ठित कर दिया।

2. जिन्ना के हठ और संकीर्णता ने और गांधी की सम्पूर्ण सच्चाई और प्रेम को मुसलमानों से मिली ठोकर ने, गांधी को एक टूटा हुआ संशयग्रस्त, असफल प्रेमी बनाकर छोड़ दिया था।

3. बदली परिस्थितियों में नये दिनों की तरह गांधी अपनी रणनीति नहीं बदल सके, उसे वक्त के अनुकूल न कर सके। उनका लचीलापन, जन-भावनाओं को आंदोलन में बदल देने की उनकी विलक्षण योग्यता, जा चुकी थी। उनकी जगह

ले ली थी कुछ आध्यात्मिक जिदों ने और रणनीति में आध्यात्म के अत्यधिक मिश्रण ने जो उन्हें अव्यावहारिक बनाये दे रहा था।

4. गांधी रचनात्मक नेता थे। उन्होंने भावनात्मक एकता की रचना की। जन आन्दोलन की रचना की। सर्वोदयी भावनाओं की रचना की थी। विदेशी सत्ता से लड़ने वाली राष्ट्रीय शक्ति की रचना की थी। किन्तु जब यह राष्ट्रीय शक्ति विघटित होने लगी, जब भारतीयों का एक विशाल सम्प्रदाय उन्हें अपना नेता मानने से इन्कार करने लगा, जब युवा वर्ग उनसे ऊब गया, जब साम्प्रदायिक भावनाओं से जन्मी संहारक शक्तियाँ मुस्लिम समाज में प्रबल होने लगीं, तो उनकी रचनात्मक प्रतिभा किंकर्तव्यविमूढ़ हो गयी। शायद जिन्ना की टक्कर का कोई कट्टर हिन्दू नेता अपनी शुष्क कूटनीति, सफेद झूठ और अड़ियलपन से जिन्ना को हिन्दू-मुस्लिम एकता के लाभ से परिचित करा देता।

ज्यों-ज्यों अंग्रेज गांधी के सम्पर्क में आये उन्होंने गांधी के प्रति अपने पुराने विद्वेष तज दिये। वे मानने लगे कि गांधी एक नकली मसीहा नहीं, एक सच्चा सन्त था जैसे सन्त पाल, सन्त जॉन और स्वयं ईसा मसीह थे। मगर इस ज्ञान के साथ उन्होंने उनसे लड़ना नहीं छोड़ा। अनेक अंग्रेजों को यह अरमान रहा है कि अगर वे ईसा के जमाने में हुए होते तो उसे सूली पर न चढ़ने देते। मगर जब वक्त आया तो उन्होंने अपनी सारी योग्यता एक नये ईसा मसीह को सूली पर चढ़ाने में लगा दी। उन्होंने एक नये जुडास को चुना, जिन्ना। साम, दाम, दण्ड, भेद सभी नीतियों से उन्होंने उसकी बुद्धि पर कब्जा कर लिया। गांधी अंग्रेजों से लड़ सकते थे किन्तु मुस्लिम लीग से नहीं। वह उस परम्परा के प्रतिनिधि थे जिसमें पुत्र यदि अवज्ञा करे तो पिता उस पर प्रहार नहीं करता बल्कि अपने प्राण तज देता है। जब ब्रह्मा के पुत्र राक्षस उन्हें ही खाने को दौड़े तो उन्हें दण्ड देने की बजाय ब्रह्मा ने शरीर तज दिया।

गांधी की जीने की इच्छा समाप्त होने लगी, ज्यों-ज्यों लीग का रुख उनके प्रति सख्त होता गया। जिन्ना ने उन सभी हथकण्डों का इस्तेमाल किया जिनका इस्तेमाल एक बहकाया हुआ भाई एक सीधे सहृदय भाई के विरुद्ध करता है ताकि किसी तरह घर का बँटवारा हो जाये। इस बँटवारा में बेचारी माँ पर क्या गुजरेगी, किस-किसका जीना दूभर हो जायेगा, इसकी चिन्ता उसे नहीं होती। उधर विश्वयुद्ध एक नया मोड़ ले रहा था। जापान शंघाई, स्याम, सिंगापुर, मलेशिया, इण्डोनेशिया को जीतता हुआ बर्मा तक आ गया था। सुभाषचन्द्र की आजाद हिन्द फौज जापान के साथ थी। 8 मार्च 1942 को जापान ने रंगून जीत लिया।

अमेरिकी राष्ट्रपति रूजवेल्ट को इससे विशेष चिन्ता हुई। वे समझ गये कि बिना भारत की मदद के मित्र राष्ट्र पूर्वी मोर्चा हार जायेंगे। भारतीयों में सुभाष

के कारण यह उम्मीद पैदा हो गयी थी कि जापान उनकी आजादी के लिए लड़ रहा है। रूजवेल्ट इसका जिम्मेदार चर्चिल को समझते थे। भारत को सदा के लिए गुलाम रखने का इरादा अगर किसी अंग्रेज में अपने उग्रतम रूप में था तो वह था चर्चिल। चर्चिल ने ही अटलांटिक चार्टर के द्वारा मिल रही सहूलियतों को भारत पर लागू नहीं होने दिया था। रूजवेल्ट को भय हुआ कि चर्चिल की यह जिद पूर्वी मोर्चे के हाथों से निकलवा न दें। उसने चर्चिल पर दबाव डाला कि वह फौरन भारतीय कांग्रेस का सहयोग प्राप्त करें।

चर्चिल ने क्रिप्स को एक ऐसा समझौता देकर भारत भेजा कि साँप मर जाये और लाठी भी न टूटे। चर्चिल राजनीति के मैदान में सबसे चतुर खिलाड़ी था। उन्हीं दिनों उसने ताजी-ताजी सफलता हासिल की थी स्टालिन को हिटलर से भिड़वाकर। जब रूजवेल्ट चर्चिल पर दबाव डाल रहा था तो चर्चिल के हथकण्डों के फलस्वरूप उन दिनों हिटलर की नाजी फौजें रूस में सिर धुन रही थीं। यह चर्चिल की ही चतुराई थी कि हिटलर ने भी वही गलती की जो नेपोलियन ने की थी। वे दोनों रूस के शीत से जा लड़े थे और यह हिम युद्ध उनकी पराजय का मुख्य कारण बना था।

चर्चिल रूजवेल्ट को यह जताना चाहता था कि उसका खयाल गलत है कि अंग्रेज भारत को गुलाम रखना चाहते हैं। असल बात यह है कि कांग्रेस स्वयं आजादी नहीं चाहती क्योंकि उसका लीग से झगड़ा है। क्रिप्स ने जो प्रस्ताव रखा वह ऐसा ही था जैसी एक विजयमाला जिसमें सर्प छुपा है। डोमिनियन स्टेट्स तो युद्ध के बाद देने को चर्चिल तैयार हो गया मगर साथ ही यह इशारा भी था कि पाकिस्तान बनेगा। चर्चिल जानता था कि कोई भी उपहार जो भारत के विभाजन पर आधारित हो गांधी को मंजूर नहीं हो सकता। गांधी ने क्रिप्स से कहा : अगर यही उपहार लाये हो तो अपना समय बर्बाद मत करो। पहला जहाज पकड़ो और लन्दन लौट जाओ।

22 मार्च 1942 को क्रिप्स भारत आया और 12 अप्रैल 1942 को लौट गया। चर्चिल का उद्देश्य पूरा हो गया था। इसके बाद चर्चिल का प्रचार अभियान चला। समाचारपत्रों और क्रिप्स के माध्यम से उसे विश्व जनमत को सन्तुष्ट करना था कि अंग्रेज भारत को आजादी देना चाहते हैं लेकिन भारतीय इसके लिए तैयार नहीं है। उसके इशारे पर क्रिप्स ने अनेक झूठे वक्तव्य गांधी और नेहरू के विरुद्ध दिये।

चर्चिल नहीं चाहता था कि भारतीय सहयोग से जापान को रोका जाये। उसे अमेरिका के एटम बम पर भरोसा था। वह चाहता था कि कांग्रेस युद्ध का विरोध करती रहे ताकि युद्ध जीतने के बाद उसकी खबर ले सके। उसकी योजना थी युद्ध के बाद भारत पर अंग्रेजी अंकुश कड़ा करने की। दूसरी ओर वह अमेरिका

को मजबूर कर देना चाहता था ताकि उसे कोई और चारा नजर न आये और वह जापान पर एटम बम का प्रयोग करे—इस तरह साँप मर जायेगा और लाठी भी नहीं टूटेगी।

हुआ भी वही। सरल हृदय रूजवेल्ट चर्चिल की चाल में आ गया। एटम बम का प्रयोग हीरोशिमा, नागासाकी पर हुआ। जापान ने समर्पण किया। बदनामी अमेरिका के सिर रही। विजय का सेहरा इंग्लैण्ड और अमेरिका दोनों के सिर बँधा।

किन्तु यह चर्चिल का दुर्भाग्य था कि युद्ध के बाद अंग्रेज मतदाताओं ने उसे प्रधानमन्त्री नहीं बनाया और भारत को सबक सिखाने की उसकी इच्छा अतृप्त रह गयी। क्रिप्स के नाटक ने भारतीयों को स्पष्ट कर दिया कि चर्चिल से उम्मीद करना मूर्खता है। सूरज से चाँदनी की उम्मीद नहीं की जा सकती। 6 मई 1944 को गांधी जेल से बाहर आये। उन्होंने अपनी जिन्दगी के स्वर्णिम 2338 दिन ब्रिटिश जेलों में पूरे कर लिये थे।

बाहर आते ही गांधी ने कोशिश की मुस्लिम लीग को मनाने की। वे जिन्ना से मिले। उनके प्रतिनिधि राजगोपालाचार्य ने लीग से अनेक वार्ताएँ करके सर्व-सम्मति से एक फार्मूला तैयार किया। इसके अनुसार उन प्रान्तों में जिनमें मुस्लिम अधिक संख्या में हैं जनमत संग्रह द्वारा यह तय किया जाना था कि वे भारत में रहेंगे या अलग होंगे। अगर वे अलग भी होते तो भी दोनों देशों की सेना, व्यापार, डाकतार एक ही रहते।

किन्तु कुछ ही दिनों बाद जिन्ना ने सी० आर० फार्मूला ठुकरा दिया। जिस तरह रतनबाई जिन्ना अपने पति जिन्ना को छोड़कर चली गयी थी और कभी वापस नहीं आयी थी उसी तरह जिन्ना कांग्रेस को छोड़ने के बाद गांधी से कोई समझौता न करने की जैसे जिद कर बैठे थे। जिस तरह उनकी युवा सुन्दर चंचल पत्नी रूठती रहती थी और वे उसे मनाते रहते थे, अब वे रूठते रहते थे और गांधी जी उन्हें मनाते रहते थे। मृत्यु के बाद जैसे रतनबाई की आत्मा जिन्ना में बस गयी थी। गांधी के साथ उनका व्यवहार एक शोख सुन्दर युवती जैसा हो गया, एक राष्ट्रीय नेता जैसा नहीं।

मौलाना आजाद ने लिखा है कि गांधी का 1944 में बार-बार जिन्ना से मिलना और उसे मनाना एक बहुत बड़ी भूल थी। जिन्ना ऐसे अवसरों का लाभ उठाना खूब जानता था। मुसलमानों ने जब गांधी को जिन्ना के पीछे भागते देखा तो उनकी नजरों में जिन्ना का मूल्य बढ़ गया। गांधी ने ही सबसे पहले जिन्ना को कायदे आजम कहकर उसे मुस्लिम समुदाय की नजरों में बहुत ऊपर उठा दिया। जिन्ना को मुसलमानों का सर्वोच्च नेता बनने के लिए कुछ नहीं करना पड़ा। गांधी की हर बात को ठुकराकर, एकता और प्रेम की हर कामना पर चोट करके,

रूठी रतनाबाई से सीखी नारी-सुलभ चेष्टाओं को राजनीति के शस्त्र बनाकर उसने नेतृत्व का वह सहज मार्ग ढूंढ़ लिया था जो किसी अन्य को नहीं मिल पाया था।

अक्टूबर 1943 मे लिनलिथगो से वायसराय की बागडोर वेवेल के हाथों से चली गयी। यूरोप मे युद्ध समाप्त हो चुका था किन्तु एशिया में चल रहा था। रूस भी चर्चिल पर दबाव डाल रहा था, भारतीय समस्या हल के लिए। लेबर पार्टी भी चर्चिल को बदनाम कर रही थी कि वह भारत की समस्या का हल नहीं करना चाहता।

14 जून 1945 को वेवेल ने एक नयी योजना प्रस्तुत की। इस योजना के पीछे भी चर्चिल का साम्राज्यवादी मस्तिष्क था जिसने वेवेल प्लान को वह रूप दिया था जिसे देखते ही कांग्रेस नामंजूर कर दे। चर्चिल के हाथ में तुरप थी। वह भविष्यवाणी कर सकता था। अगर किसी वजह से गांधी ने वेवेल प्लान को स्वीकार कर लिया तो जिन्ना है। जिन्ना हर उस चीज को ठुकरा देगा जिसे गांधी स्वीकार करेगा। चर्चिल का साम्राज्यवाद कुतुबमीनार की तरह सुरक्षित था और वह निःशंक होकर उदारता का यह नाटक खेल सकता था।

वेवेल प्लान में यह प्रावधान था कि वायसराय की काउन्सिल के सभी मेम्बर वायसराय और सर्वोच्च सेनापति को छोड़कर, भारतीय होंगे। दूसरा प्रावधान था कि इसमें आधे हिन्दू और आधे मुसलमान होंगे। यह प्रावधान मनुष्य का समानता के मूल-सिद्धान्त के विरुद्ध था। भारत की जनसंख्या में हिन्दू मुसलमानों की अपेक्षा चार गुने अधिक थे। फिर भी वेवेल प्लान मे चौगुने हिन्दुओं के भी उतने ही मेम्बर होते थे जितने मुसलमानों के।

फिर भी गांधी ने यह शर्त स्वीकार कर ली। तब जिन्ना ने एक नयी अड़चन डाल दी जिसका कोई इलाज गांधी के पास नहीं था। जिन्ना ने कहा कि कांग्रेसी मुसलमान हिन्दुओं के पिठ्ठू है। उनमें से एक भी मुसलमानों का प्रतिनिधि बनकर काउन्सिल मे नही बैठेगा। सारे प्रतिनिधि लीग के होंगे। जिन्ना की इस शर्त को मानने के मायने थे राष्ट्रीय एकता को मानने वाले, साम्प्रदायिक विष से मुक्त, मुस्लिम नेताओं का अपमान। इसे स्वीकार करने के मायने थे भारतीय मुसलमानों को यह बताना कि अगर वे मुसलमानों के नेता कहलाना चाहते है तो पहले मुस्लिम लीग के मेम्बर बने। जिन्ना की इस जिद में कांग्रेस का पूर्ण विनाश निश्चित था।

अतः वेवेल प्लान अस्वीकृत हो गया। 14 जुलाई 1945 को वेवेल ने अपनी असफलता की घोषणा कर दी। घोषणा तत्परता और सजधज के साथ की गयी। चर्चिल इस घोषणा को इस्तेमाल करना चाहता था, रूस और अमेरिका को यह दिखाने को कि अंग्रेज उदार है और भारत को स्वतन्त्र करना चाहते है। किन्तु यह

घोषणा उसके काम न आ सकी क्योंकि चार दिन पहले 10 जुलाई को वह चुनाव हार गया और एटली की सरकार बन गयी।

नवम्बर 1945 में आई० एन० ए० का मुकदमा चला। तीन फौजी अफसरों पर अंग्रेजों ने मुकदमा चलाया कि उन्होंने बगावत की और आजाद हिन्द फौज के साथ मिल गये। उनमें शाह नवाज मुसलमान था, सहगल हिन्दू और ढिल्लो सिख। पूरे भारत की आँखें इस मुकदमे पर लग गयी थीं। नेहरू ने वकील वाला चोगा जो वर्षों पहले छूट गया था फिर अन्तिम बार पहना। भूलाभाई देसाई और नेहरू ने अदालत को बताया कि गुलामों का धर्म है आजादी के लिए लड़ना। इसे बगावत नहीं कहा जा सकता। किन्तु अदालत ने तीनों को फाँसी की सजा सुनायी। ड्रामा अभी बाकी था। ब्रिटेन यह दिखाना चाहता था कि कानून के आगे तीनों अपराधी थे किन्तु ब्रिटेन उदार है। सर्वोच्च सेनापति क्लाईड-आकिनलेकन ने तीनों को मुक्त कर दिया।

यह मुकदमा भारत और ब्रिटेन दोनों के लिए अत्यन्त महत्वपूर्ण साबित हुआ। नौजवानों में एक निराशा थी कि उन्होंने 1942 में गांधी का राजपथ छोड़कर हिंसा से काम लिया था। नेहरू ने आई० एन० ए० के लिए वकील बनकर एक बार फिर युवा जोश और वृद्ध नेतृत्व, सशस्त्र-क्रान्ति और अहिंसा, के बीच नये पुल बना दिये।

उधर इंग्लैण्ड को सैनिक विद्रोह क्षमा करना पड़ा था। यह निर्णय समस्त साम्राज्यवादी परम्परा के विरुद्ध था। आकिनलेकन का यह निर्णय बाकी सेना को अंग्रेजों के प्रति वफादार नहीं रहने देगा—यह बात एटली जानता था। यह निर्णय एटली का पहला निश्चित कदम था भारत को स्वतन्त्र करने की दिशा में। इस निर्णय ने भारतीय सेना में देशभक्ति की चिंगारी को प्रज्वलित कर दिया। एटली के इस कदम ने भारतवासियों को पहली बार वह बात समझा दी जो अनेक वायसरायों के फार्मूले नहीं समझा सके थे। भारतीय समझ गये थे कि इंग्लैण्ड के भारत को मुक्त करने के इरादे में गम्भीरता और सच्चाई आ गयी है।

19 फरवरी 1946 में भारतीय नौसेना के दो हजार जवानों ने विद्रोह कर दिया। जैसा एटली का विचार था वही हुआ। आकिनलेकन के फैसले के बाद भारतीय सेना हाथों से निकली जा रही थी। एक बागी सेना के सहारे भारत की बागडोर थामे रखना असम्भव था। इस विद्रोह के साथ एटली के दिमाग में जल्दबाजी पहली बार आयी। "अगर इज्जत से भारत छोड़ना है तो जितनी जल्दी हो सके छोड़ दो" यह विश्वास उनके मन में घर कर गया।

नौसेना के इन जवानों ने पहली बार असमान वेतन और अपमानजनक व्यवहार का विरोध किया जो सेना शुरू से सहती चली आ रही थी। जब अंग्रेजी

सेना ने उन पर गोलियाँ चलायी तो उन्होंने जवाबी हमला किया और 20 समुद्री पोतों पर कब्जा कर लिया जो तोपों से लैस थे। यह विद्रोह बम्बई में शुरू हुआ। दो दिन में यह कराची, कलकत्ता, मद्रास की नौसेना में भी फैल गया। सरदार पटेल ने बीच-बचाव कराया और इस तरह विद्रोह समाप्त हुआ।

15 मार्च 1946 को एटली ने ब्रिटिश संसद को बताया कि यह ब्रिटेन के हित में है कि वह भारत को जल्दी से जल्दी मुक्त कर दे। ब्रिटेन मुसलमानों को निर्भय होकर जीने देने का प्रबन्ध करेगा। एटली ने अपनी घोषणा में एक नयी बात और कही जिसने जिन्ना की हर वार्ता को विफल करने की योजना पर एक सशक्त कुठाराघात किया। एटली ने कहा कि "अल्पमत को बहुमत की आकांक्षाओं को कुचलने नहीं दिया जायेगा।"

इस वक्तव्य से जिन्ना समझ गया कि वार्ताओं और समझौतों को विफल कर देने वाली उसकी विशेष योग्यता की अब अंग्रेज को जरूरत नहीं रही। फलतः उसने भी अपना रुख बदल लिया।

24 मार्च 1946 को एटली ने अपने तीन मन्त्रियों को भारतीय नेताओं से वार्ता करके हल ढूंढने के उद्देश्य से भारत भेजा। ये मन्त्री थे स्टैफर्ड क्रिप्स, पेथिक लारेन्स और एलक्जेण्डर। इस कैबिनेट मिशन ने पाकिस्तान की माँग को अव्यवहारिक कहकर ठुकरा दिया। इसने अल्पसंख्यकों को अत्याधिक प्रतिनिधित्व देने वाली नीति को भी मान्यता नहीं दी। इसने जनसंख्या के आधार पर प्रतिनिधित्व के सिद्धान्त को माना। चुनाव द्वारा कांस्टीटुएण्ट एसेम्बली बनने तक इसने अन्तरिम सरकार बनाने का प्राविधान रखा। इस अन्तरिम कैबिनेट के सभी मन्त्री भारतीय होने थे। कैबिनेट प्लान में कुछ कमियाँ थीं।

1. पहली कमी थी एक कमजोर केन्द्रीय सरकार की।

2. दूसरी यद्यपि जाहिरा तौर पर यह पाकिस्तान बनाने के पक्ष में नहीं था तथापि इसने वे कमियाँ छोड़ रखी थीं जिनसे पाकिस्तान आगे चलकर बनता।

कैबिनेट प्लान को 6 जून को लीग ने और 25 जून को कांग्रेस ने स्वीकार कर लिया। जुलाई में चुनाव हुए। 210 जनरल सीटों में कांग्रेस ने 199 जीतीं। 78 मुस्लिम सीटों में लीग ने 73 सीटें जीतीं।

भारी बहुमत होने के कारण कांग्रेस बाध्य नहीं थी कि अन्तरिम सरकार बनाने में लीग की मदद ले। उधर कांग्रेस अध्यक्ष नेहरू ने एक वक्तव्य दे दिया कि कांग्रेस कैबिनेट प्लान को बदल सकती है इससे जिन्ना को कांग्रेस की नीयत पर शक हो गया। अतः जिन्ना ने लीग द्वारा कैबिनेट प्लान को दी गयी मन्जूरी वापस ले ली। उन्होंने पाकिस्तान प्राप्त करने के लिए मुसलमानों से "सीधी कार्यवाही" करने को कहा जिसका नतीजा हुआ हिन्दुओं पर अप्रत्याशित हमला और हजारों निरपराधों की हत्या। चुनावों ने स्पष्ट कर दिया था कि अधिकांश मुसलमान मुस्लिम लीग के साथ है क्योंकि 78 मुस्लिम सीटों में से कुल पाँच राष्ट्रवादी मुसलमान जीत पाये थे। 16 अगस्त को कलकत्ते में, और अक्टूबर में नोआखाली में, मुस्लिम

लीग ने मनमाना हत्याकाण्ड किया। इससे प्रेरित होकर हिन्दू-मुस्लिम दंगे बिहार, गढ़मुक्तेश्वर और अहमदाबाद में भड़क उठे।

मुस्लिम लीग ने संविधान नहीं बनने दिया। संविधान बनने के अर्थ होते भारत की एकता। नेहरू की सरकार बन चुकी थी जिसमें पाँच मन्त्री मुस्लिम लीग के थे। जिन्ना ने कैबिनेट प्लान अस्वीकृत करके भी कैबिनेट प्लान के आधार पर बनी अन्तरिम सरकार में पाँच मन्त्री भेज दिये थे ताकि वे इस सरकार को असफल कर सकें, दंगे शान्त न हों, और यह सिद्ध किया जा सके कि इस समस्या का हल पाकिस्तान बनाकर ही हो सकता है।

गांधी ने अंग्रेजों को कहा कि जब आपको भारत छोड़ना है तो अभी क्यों नहीं छोड़ते। सत्ता आन्तरिक सरकार को सौंप दो, ताकि वह प्रभावी कार्यवाही करके दंगे शान्त करे। अंग्रेज अफसर दंगे रोकने की कोई कार्यवाही नहीं कर रहे थे। अपने को निष्पक्ष दर्शाने के उत्साह में वे अपने कर्तव्यों के प्रति उदासीन हो चले थे। उधर लीग के पाँच मन्त्री नेहरू सरकार को चलाने के लिए नहीं, असफल करने के लिए भेजे गये थे। अतः वे कदम-कदम पर रुकावट डाल रहे थे। अकर्मण्य अंग्रेज अफसरों और अराजकता को भड़काये रखने पर कटिबद्ध मुस्लिम लीगी मन्त्रियों के बीच पिसकर नेहरू की अन्तरिम सरकार शान्ति व्यवस्था न ला सकी। इस सरकार को इतना भी अधिकार नहीं था कि एक जिलाधीश का स्थानान्तरण कर सके। सरदार पटेल ने तथ्य प्रस्तुत किये हैं जिनसे स्पष्ट हो जाता है कि इस सरकार का राजनैतिक विभाग, जो पूरी तरह अंग्रेजों के अधीन था, हर सम्भव प्रयत्न कर रहा था कि अराजकता बनी रहे और भारत में एक नहीं अनेकों पाकिस्तान बन जायें।

अन्तरिम सरकार की असफलता ने नेहरू और पटेल दोनों का मनोबल तोड़ दिया। परिस्थितियों ने उनके विचार बदल दिये। वे यह मानने लगे कि जब मुसलमान एक भारत नहीं चाहते तो शेष भारत को और टुकड़ों में टूटने देने की अपेक्षा पाकिस्तान बन जाने देना चाहिए। कुछ आधुनिक पाकिस्तानी इतिहासकारों ने यह सिद्ध करने की चेष्टा की है कि जिन्ना विभाजन नहीं चाहते थे। किन्तु इसके लिए प्रमाण में उन्होंने तथ्य नहीं कल्पना प्रस्तुत की है।

भारत को निराशा के इस कगार तक लाकर, फूट डालने की नीति को जिन्ना और मुस्लिम लीग के सहयोग से यह आशातीत सफलता दिलाकर, विभाजन करने का ब्रिटिश निर्णय एकता के सपनों को तोड़ने में सफल हो गया। किन्तु विभाजन करने का काम वेवेल को नहीं सौंपा जा सकता था क्योंकि वह एक सीधा सपाट सैनिक था। इन अन्तिम ऐतिहासिक महीनों में इन इरादों को पूरी तरह छुपाये रखना अंग्रेजों के लिए जरूरी था ताकि विभाजन का जिम्मेदार पूरी तरह भारतीयों को दर्शाया जा सके।

भारतीय स्वाधीनता

तीन शताब्दियों तक इतिहास के सबसे बड़े साम्राज्य पर इंग्लैण्ड ने शासन किया था। अंग्रेजों में अपनी क्षमता और वीरता, न्यायप्रियता और शासकीय कुशलता के प्रति एक अपूर्व विश्वास जाग गया था। वे अपने आपको मानव जाति का बेहतरीन नमूना समझने लगे थे।

द्वितीय विश्वयुद्ध इंग्लैण्ड ने जीत लिया जरूर मगर उसके स्वाभिमान को गहरी चोट लगी। यह जीत उसकी नहीं, अमेरिका की थी। अमेरिका की एटमी शक्ति की जीत हुई थी। अमेरिका युद्ध लड़कर भी सम्पन्न था जबकि अंग्रेज गरीब हो गये थे। अर्थशास्त्र को राजनीति का मेरुदण्ड बनाने वाली अंग्रेज जाति जान गयी थी कि भविष्य अमेरिका के लिए सज रहा है। अंग्रेज मस्तिष्क अपने देश की दरिद्रता की तुलना अमेरिका के वैभव से करके एक के बाद एक टूटते जा रहे थे। अमेरिका एक नवयौवना की तरह रूप और वैभव के चढ़ान पर था जबकि इंग्लैण्ड एक गतयौवना बुढ़िया का जीवन जी रहा था जिसके पास तन ढकने को पर्याप्त कपड़े भी नहीं थे। खाने को डबल रोटी, अण्डे नहीं थे। पैरों में जूते नहीं थे। बमबारी से जली दीवारों की मरम्मत करने के लिए पैसे नहीं थे। पैट्रोल नहीं था, कोयला नहीं था। अमेरिका का भारी कर्जा सिर पर था। कभी जो विश्व का सबसे मजबूत और गौरवशाली सिक्का था, अंग्रेजों का वह पाउण्ड, जख्मी, आहत व्यक्ति की तरह उधारे खून पर सांस ले रहा था। कोयले के अभाव में घरों को गरम करने का कोई साधन नहीं था। शीत की रातें कांपते हुए गुजर रही थीं।

कहने को अब भी बहुत था। अंग्रेज बच्चों को आज भी गर्व के साथ शिक्षक कक्षाओं में बतलाते थे कि हर सुबह दूर-दूर के देशों में, आधी दुनिया के लोग अपने भवनों पर अपना झण्डा नहीं फहराते। वहाँ भी अंग्रेजों का झण्डा—यूनियन-जैक—फहराता है।

मगर इस गौरव गाथा में अब उदासी का सुर कहीं से आकर मिल गया था। अब ये बातें एक मरते हुए व्यक्ति को दिये गये झूठे ढाढ़स जैसे लगने लगी थीं।

तीन शताब्दियों तक ब्रिटेन ने इतने बड़े भू-भाग पर शासन किया था जो

सिकन्दर, सीज़र और नेपोलियन के स्वप्नलोक से भी बड़ा था। भूगोल पढ़ते हुए अंग्रेज बच्चे और धन लोलुप अंग्रेज व्यापारी जब विश्व के आधे मानचित्र पर लाल रंग बिखरा देखते थे तो उन्हें उस गौरव की प्रतीति होती थी जो मनु-पुत्रों ने उससे पहले नही जाना था।

विचित्र विडम्बना थी। उस गौरवशाली साम्राज्यवाद के पोषक चर्चिल को, विश्वयुद्ध जीत लेने के बाद, उस के महान कारनामों और सेवाओं के बावजूद, अंग्रेज जनता ने चुनाव में हरा दिया। उसकी जगह वे लाये एटली को जिसने स्पष्ट घोषणा कर दी थी कि प्रधानमन्त्री बनने के बाद वह जल्दी से जल्दी भारत को स्वतन्त्र कर देगा। ऐसा नहीं कि अंग्रेज कल्पना ब्रिटिश राज के लाल और सुनहरे रंगों से ऊब गयी थी। रेशमी अंगरखों वाले महाराजा, लाल सुनहरी वर्दी वाले चमचमाते वायसराय के अंगरक्षक घुड़सवार, राजाओं, नवाबों के साथ चीतों के शिकार, पोलो के चक्कर, शाही हाथियों के स्वर्ण मण्डित हौदे, क्लबों के मल्ली-गेटानी सूप और मसूरी, शिमले में ग्रीष्म की शामें साहबों से ज्यादा सख्त और तेज तर्रार मेमें, अब भी अंग्रेज शासकों की सुमधुर कल्पनाओं के अविछिन्न अंग थे। लेकिन अंग्रेज स्वप्न देखते है स्वप्नों में जीते नहीं। यथार्थ कितना भी ठण्डा और कठोर हो, इंग्लैण्ड के भीषण शीत ने उन्हें यथार्थ में जीना सिखाया है। इंग्लैण्ड जान चुका था साम्राज्यवाद के दिन चले गये। वक्त से कोई नहीं लड़ सकता। इतिहास की अपरिचित आँखें, कालपुरुष की आँखें साम्राज्यवाद को ऐसे देख रही थीं जैसे वह एक शव हो, अतीत हो। यह संकेत था बुद्धिमानों के लिए। यह अवसर था साम्राज्यवाद के लिए ससम्मान निकल भागने का। अंग्रेज देख रहा था कि निकलने में देरी कर दी तो बेआबरू होकर निकलना पड़ेगा। उसे एक ऐसे प्रधानमन्त्री की जरूरत थी जो इज्जत के साथ साम्राज्यवाद को दफना सके और अंग्रेजों के प्रति कुछ मीठी यादें उन भारतीयों के हृदय में छोड़कर आ सके जो तीन लम्बी शताब्दियों तक अंग्रेज पागलपन और बर्बरता के शिकार हुए थे।

इसके लिए एटली ने चुना माउण्टबेटन को जो एक खूबसूरत छः फुट लम्बा, इकहरा, छियालिस वर्षीय, शाही नौजवान था। उसकी दिलफरेब हँसी उसे पहले ही इंग्लैण्ड के रविवारीय पत्रों का मुख्य आकर्षण बना चुकी थी। वह इस सबके साथ एक सुलझा हुआ सेनापति भी था। वह कुशाग्र था, यथार्थवादी था और जानता था इंग्लैण्ड के हितों को भारतीय नेताओं के सामने इस तरह पेश करना की वे उन्हें भारत के हित नजर आयें।

भारत के तीस करोड़ हिन्दूओं और दस करोड़ मुसलमानों के बीच फूट डालने का नाटक जो अंग्रेजों ने अपनी जातिगत एंग्लोसेक्शन चालाकी और वाईकिंग निर्ममता के साथ खेला था, वह नाटक अपने दुखान्त तक आ पहुँचा था। अंग्रेजों को यह स्पष्ट हो चुका था कि विभाजन न किया तो रक्तपात होगा और विभाजन

किया तो भी। रक्तपात उस फूट की नीति का फल था जो फलना ही था। माउण्ट-बेटन को सिर्फ यह सुनिश्चित करना था कि यह रक्तपात अंग्रेजों के भारत छोड़ देने के बाद हो ताकि अंग्रेज-प्रशासन-योग्यता बदनाम न हो तथा दुनिया देख सके कि एक दूसरे के खून की प्यासी भारतीय जनता स्वतन्त्रता के योग्य थी ही नहीं। उन पर शासन करके अंग्रेजों ने उल्टे उन पर उपकार किया था।

द्वितीय विश्वयुद्ध में मुस्लिम लीग ने अंग्रेजों का साथ दिया था, कांग्रेस ने नहीं। कृतज्ञता स्वरूप उसे पाकिस्तान देने का निर्णय इंग्लैण्ड कर चुका था।

घड़ी नाजुक थी। जरा सी असावधानी से हिन्दू-मुसलमानों का सामूहिक रोष अंग्रेजों की ओर मुड़ सकता था और भारत में रहने वाले लाखों अंग्रेजों की जान खतरे में पड़ सकती थी।

माउण्टबेटन केवल एक सुन्दर प्रसन्न छवि वाला छैला ही नहीं था। 43 वर्ष की अल्पायु में वह दक्षिण-पूर्व एशिया का सुप्रीम कमाण्डर बन गया था। इस पद पर उसने जिस योग्यता का परिचय दिया उसने ब्रिटेन के समस्त सांसदों को उसके प्रति प्रशंसा के भाव से भर दिया था। उसके दुश्मन भी कहने लगे थे—"अगर किसी भूखी चील को किसी लाश पर से हटाना हो तो माउण्टबेटन को भेज दो। वह केवल अपने मोहक हाव-भाव दिखाकर ही उसे हटा देगा।"

शान, सम्मान और शौर्य के साथ हारने की राजपूती योग्यता उसमें नहीं थी। कैसे पराजय में भी गाथा बने और लोग हार जाने पर भी हमारी वीरता और अच्छाई के चर्चे करें—यह अन्दाज उसने नहीं जाना था। वह इंग्लैण्ड के लिए विजय प्राप्त करने आया था, एक अनोखी विजय जो ब्रिटिश राज के विघटन से निर्मित की जा सकती थी। वह एक सिपाही था। वह जीतना चाहता था। उसका एक मात्र व्यसन जीत था।

जाति जन्य विद्वेषों और दंगों के बीच उसने बचपन से जीना सीखा था। दूसरी जातियों के प्रति नफरत अंग्रेजों में कम नहीं है। इसलिए इस नफरत के बीच जीने की कला उसने इंग्लैण्ड में रहते हुए ही सीख ली थी। उसके पिता जर्मन थे और अंग्रेजों की नफरत से तंग आकर उन्हें नौकरी से त्याग पत्र देना पड़ा था। अंग्रेजी नफरत इससे भी शान्त नहीं हुई तो उन्हें जीने के लिए अपना नाम बदलना पड़ा था। माउण्टबेटन का असली नाम बेटनबर्ग था। इस नाम से जर्मन गन्ध आती थी जो अंग्रेजों को पसन्द नहीं थी। लूई माउण्टबेटन के पिता के समय से यह नाम बेटनबर्ग से बदलकर माउण्टबेटन हो गया था।

एक विचित्र ऐतिहासिक सत्य है जिस पर इतिहासकारों का ध्यान नहीं गया है। वह यह कि माउण्टबेटन के आ जाने के बाद से भारतीय इतिहास पर महात्मा गांधी का असर फीका होने लगा था। अफ्रीका से लौटने के बाद गांधी जी भारतीय जनता के नहीं, नेताओं के भी नेता रहे थे। सब जानते थे कि वे आदर्श-

वादी है लेकिन सब यह भी मानते थे कि उनसे बड़ा व्यवहारवादी कोई दूसरा नहीं है। वे एक ऐसे ईश्वरवादी हैं जिन्हें यथार्थ ने उँगली पकड़कर चलना सिखाया है। भारतीय यह मानते थे कि गांधीजी अंग्रेजों की चाल को विफल बनाने में एकमात्र सिद्धहस्त यथार्थवादी हैं। उनके इस विचित्र यथार्थवाद ने बहुतों की नजरों में उनका मूल्य गिरा रखा था। लेकिन नग्नवक्ष और नग्नघुटनों वाले उस अथक यात्री को उसकी चिन्ता नहीं थी। चर्चिल उन्हें एक नंगा अधपढ़ा ढोंगी समझता था। ब्रिटेन का सबसे बड़ा दार्शनिक बर्टेण्ड रसेल उन्हें एक बौद्धिक बौना समझता था। जिन्ना की नजरों में वे एक बेहद चालाक कांईया बनियाँ थे।

माउण्टबेटन के आने के बाद वही गांधी भारतीयों की नजरों में केवल एक आध्यात्मिक, ईश्वरभक्त रह गये जो नाहक राजनीति में दखल दे रहे थे। भारत के नेता यह समझने लगे थे कि गांधी जी यथार्थ से दूर होते जा रहे हैं, भारतीय जनता की नब्ज पर उनकी पहले जैसी पकड़ अब नहीं रह गयी है।

यह माउण्टबेटन की एक बहुत बड़ी विजय थी कि उसने नेहरू और पटेल दोनों को विभाजन के लिये सहमत कर लिया। माउण्टबेटन के एक अनुभवी सैनिक वाले यथार्थवाद में कुछ ऐसी मोहकता और मर्दानगी थी कि कांग्रेस के तीनों प्रमुख नेता नेहरू, पटेल, और कृपलानी उससे मोहित हो गये। उनके विभाजन हेतु सहमत हो जाने का पता गांधी को बड़ी देर बाद प्रार्थना सभा में लगा और वृद्ध, जर्जर राष्ट्रपिता के मुंह से उनकी अन्तर-वेदना के अनुरूप ये शब्द निकले—"अब उन्हें मेरी जरूरत नहीं रही। मैं जी क्यों रहा हूँ?" गांधी जी की हत्या के तुरन्त बाद राष्ट्र ने गृहमन्त्री पटेल और नेहरू को कटघरे में खड़ा किया था। गांधी जी की सुरक्षा के प्रति गाफिल हो जाने का आरोप उन पर लगाया था। कोई आश्चर्य नहीं कि वह जो कभी उनका गुरू रहा था, आदर्शवादी डगर पर चलता-चलता, इतनी दूर चला गया हो कि यथार्थ को इस नयी पृष्ठ-भूमि में माउण्टबेटन के सवा छः फीट उत्फुल, स्वस्थ यथार्थवाद के बीच, उनके मन से उसका ख्याल कुछ समय के लिये विस्मृत हो गया हो। गांधी अर्थव्यवस्था के समर्थक चरणसिंह ने नेहरू को इस गफलत के लिए कभी क्षमा नहीं किया। नेहरू के जीते जी वह कुछ अधिक न कह सका। किन्तु नेहरू की मृत्यु के बाद उसने कोई भी अवसर नहीं निकलने दिया जब उसने कड़े से कड़े शब्दों में राष्ट्र को यह न बताया हो कि विभाजन के समय से नेहरू की सभी नीतियाँ गांधी जी की नीतियों के प्रतिकूल थीं। नेहरू पश्चिम-यथार्थवाद—औद्योगिक-प्रगति की दुनिया में उतर गये थे और गांधी जी मुट्ठी भर राख बन हरिजन बस्तियों में, धूल और गन्दगी में, और भारत के गरीब झोपड़ों की देहली पर सो गये थे।

यह कुरुक्षेत्र था स्वतन्त्रता का। भारत के इतिहास को दोहराने से रोकने में अगर कोई कुछ सफल हुआ था तो वे अंग्रेज थे। अंग्रेजों ने यह पूरा ध्यान रखा

था कि खून-खराबे का कलंक उनके माथे न लगे। इस बार के महाभारत में थोड़ा सा संशोधन हो गया था—दुर्गति का कलंक शकुनि के माथे नहीं था।

लार्ड वेवेल ने एक अन्तिम राय दी—"सभी अंग्रेज भारत छोड़ दें और यह पागलखाना भारतीयों को सौंप दें।" एक आँख वाला सीधा सिपाही वेवेल ब्रिटेन के मनसूबों को नहीं पढ़ पाया था। इसलिए उसने यह स्पष्ट सीधी-सादी योजना रख दी। इसके बदले में उसे एक तमाचा मिला। उसे एक ऐसी अशोभनीयता के साथ वायसराय के पद से हटाया गया जैसा उससे पहले के किसी वायसराय के साथ नहीं हुआ था। उसके रहते ही रहते दूसरे वायसराय को चार्ज लेने भेज दिया गया। ब्रिटिश राज्य को समाप्त करने की धृष्टता के बदले में, भारतीयों को बिना उचित सबक सिखाये स्वतन्त्रता दे देने की इस फूहड़, बेमजा योजना प्रस्तुत करने के बदले में वेवेल को सजा मिलनी ही चाहिए थी। बूढ़ा एक आंख वाला जनरल मरने तक यह नहीं समझ पाया कि उसकी इतनी सेवाओं के बदले ब्रिटिश सरकार क्यों हीटर के तारों की तरह आग बबूला हो गयी थी। वह यह नहीं देख पाया था कि ब्रिटिश सरकार और ब्रिटिश साम्राज्यवाद जुदा हो रहे थे और अंग्रेज मिजाज के अनुसार इस दुखःद अवसर पर कुछ न कुछ मातम मनाने वाले जरूरी थे। यह मातम मनाने वाले भारतीय होने थे।

कुल चार महीने के लिए माउण्टबेटन को भारत का वायसराय होना था और वह आया था भारत को छोड़ने, एक ऐसे कार्य के लिए जिससे अंग्रेज दुःखी थे। मगर 24 मार्च 1947 को जब वह वायसराय के सिंहासन पर बैठा तो उसने अपने पहले के सभी वायसरायों को पीछे छोड़ दिया, शान और शौकत के प्रदर्शन में।

वह वायसराय के वैभव और रौब को उसके समस्त राजसी ऐश्वर्य के साथ उभारना चाहता था। वह कोई चार्ली चैप्लीन नहीं था जिसे हास्यप्रद रोल करने का शौक हो। वह ऐसा किसी खास उद्देश्य से करना चाहता था। उसने राष्ट्रपति भवन की हर दीवार को, हर लकड़ी के सामान को नये सिरे से पुतवाया क्योंकि वह भारतीय नेताओं से सिर्फ अलविदा नहीं कहना चाहता था। वह उन पर मनोवैज्ञनिक ढंग से सत्ता का रौब डालना चाहता था ताकि वह ब्रिटिश शर्तें मनवा सके।

उसका हर कदम नपा-तुला एक सैनिक के सधे दाव-पेंचों जैसा था। उसने बिना अंगरक्षकों के ऐटविना माउण्टबेटन के साथ सुबह के समय दिल्ली के आसपास के गाँवों में घुड़सवारी शुरू कर दी थी। वह भारतीय जनता के करीब जाकर उसे चौंकाना चाहता था और उसका दिल जीतना चाहता था। जनता का चहेता होकर वह कांग्रेस के नेताओं पर अधिक दबाव डाल सकता था। केवल चार महीनों के लिए आया हुआ माउण्टबेटन, वह भी अलविदा कहने के लिए, क्यों

गरीब भारतीयों की ओर आकृष्ट हो रहा है ? सबने यही समझा कि यह उसकी सरलता और प्रेम-भाव का प्रतीक है।

वह राजा होकर भी गरीबों से प्यार करता है। इसी छवि की माउण्टबेटन को जरूरत थी। कोई नहीं जानता था सिवाय उसके, ऐडविना भी नहीं, कि कितने जतन से वह यह छवि बना रहा है। उसकी मृत्यु के बाद जो नये तथ्य प्रकाश में आये हैं, जो पुस्तकें छपी है, उनसे उसकी इस सुनिश्चित योजना का पता चलता है।

वायसराय निवास के दरवाजे पहली बार भारतीयों के लिए खुल गये। माउण्टबेटन ने सख्त आदेश दिये कि अब से वायसराय की पार्टियों में कम-से-कम आधे मेहमान भारतीय होने चाहिए। उसने भारतीय सैनिकों का भी प्यार जीतना चाहा। पहली बार तीन भारतीय सैनिक अफसर वायसराय के ए० डी० सी० बनाये गये।

पहली बार वायसराय की मेज पर भारतीय शाकाहारी भोजन भारतीय ढंग से थालियों में परोसा जाने लगा। कोई भी आधुनिक दिल्ली का कूटनीतिज्ञ यह बता देता कि अंग्रेज अपने तौर तरीकों में इतना परिवर्तन किसी उद्देश्य के बिना नहीं करते। किन्तु वह दौर भारत में कूटनीतिज्ञों का नहीं मानवतावादी राजनीतिज्ञों का था।

केवल वे दो नेता जो माउण्टबेटन के मोहक कर्मों के शिकार नहीं हुए थे : गांधी और जिन्ना थे। जिन्ना को इस धृष्टता के लिए माउण्टबेटन ने कभी माफ नहीं किया। अन्त तक वह उसे एक दम्भी, ठण्डा, कायर, हृदयहीन, अड़ियल मुखौटों वाला शठ पुरुष कहता रहा। महात्मा गांधी को एक महान ईश्वर परस्त आध्यात्मिक नेता कहकर उसने अपने राजनैतिक अखाड़े से अलग कर दिया। उधर गांधी जी को नोआखाली और कलकत्ते के दरिद्र दुःखी भारतीयों के बीच और काम मिल गये। न्यूयार्क टाइम्स ने यथार्थ की ओर इशारा किया था—"कुछ ही सप्ताहों में माउण्टबेटन की मोहित करने की योजना सफल हो गयी है।" नेहरू ने कहा था, "आज वायसराय को देखने इतनी भीड़ आती है जितनी किसी भी भारतीय नेता को देखने नहीं आती।"

वायसराय के चीफ आफ स्टाफ जनरल ने कहा था कि "भारत एक जहाज है जिसमें आग लग चुकी है और जहाज में बारूद भरा है।" साम्प्रदायिक वैमनस्य भड़काने की अंग्रेज नीति ने दोनों समुदायों की हिंसक-वृत्ति को उभार दिया था। माउण्टबेटन को देखना यह था कि आग के बारूद तक पहुँचने तक भारतीयों को विभाजन के विषय में उलझाये रखा जाये और तैयारी करते रहें और विभाजन करते ही जहाज से कूद पड़ें और सुरक्षित अपने देश पहुँच जायें।

माउण्टबेटन दम्पति और गांधी जी की पहली मुलाकात थी। गांधी सोफे पर

ऐसे बैठे थे—"जैसे एक उदास चिड़िया टहनी पर बैठी हो," माउण्टबेटन के अनुसार, क्योंकि उनकी एकमात्र घड़ी जो उनकी कमर पर लटकी रहती थी किसी ने चुरा ली थी। यह अंग्रेजों की मासूमियत है कि वे इसके पीछे एक अपरिग्रहों का एक मामूली घड़ी के प्रति मोह ही देख सके।

गांधी जी का विशाद इस बात पर था कि समय उनके हाथ से निकल गया है, ऐतिहासिक मंच पर उनका रोल समाप्त हुआ जा रहा है। लोग उन्हें बुद्ध और ईसा की श्रेणी देकर, काल से निकालकर अकाल में धकेल रहे थे। एक अन्तिम चेष्टा गांधी जी ने उस दिन की थी, काल के प्रभाव में टिके रहने की, अकाल की ओर न बढ़ने की। उन्होंने माउण्टबेटन से उस दिन कहा था, "भारत का विभाजन मत करो। जिन्ना नहीं मानते तो उन्हें पूरा हिन्दुस्तान दे दो।"

माउण्टबेटन इस घोषणा से हतप्रभ हो गये। जो व्यक्ति ऐसे निश्छल, निरस्त्र करते उपहार देने को तत्पर है वह कैसे विभाजन होने देगा।

उसने इसका जिक्र जिन्ना से भी नहीं किया। एक महीने के अन्दर भारत विभाजन की एक योजना चुपचाप बनाकर उसने जनरल को लन्दन स्वीकृति प्राप्त करने के लिए रवाना किया और स्वयं शिमला के लिए रवाना हो गये। अभी और अभिनय बाकी था। शिमला में भारतीय नेताओं से कई मिटिंगें करनी थीं। उन्हें इस भ्रम में रखना था कि ब्रिटेन सचमुच चाहता है कि विभाजन न हो।

इस विभाजन योजना में अंग्रेजों की चालाकी और दुहरा चेहरा बेनकाब देखा जा सकता है। भारत विभाजन को एक दुःखद अनिवार्यता कहकर मगरमच्छ के आंसू बहाने का अंग्रेज प्रदर्शन भी इस योजना में स्पष्ट है। जिन्ना भारत के दो टुकड़े कराना चाहता था। माउण्टबेटन ने अपनी योजना में भारत के अनेक टुकड़े कर दिये थे। उसने एक ऐसा खतरनाक छुरा मखमल में छुपाया था जो भारत को विभाजन के बाद भी, एक राष्ट्र के रूप में न जीने देता। इस विभाजन-योजना में उसने एक नयी गुत्थी जोड़ दी थी। वह थी—भारत के किसी भी प्रान्त के लोग यदि बहुमत से एक अलग राष्ट्र बनाना चाहें तो उस प्रान्त को अंग्रेज भारत और पाकिस्तान के अतिरिक्त एक अलग राष्ट्र बनाकर जायेंगे।

अन्त तक अंग्रेज नीति इस कोशिश में रही कि भारत की स्वतन्त्र सत्ता को एक असम्भव सिद्ध कर दे और इतिहास के गुप्त निमन्त्रण पर भारत में फिर से अंग्रेज प्रवेश कर सकें।

इस बात को बहुत तूल दिया गया है कि माउण्टबेटन को सार्वभौम अधिकार प्राप्त थे। इंग्लैण्ड ने कभी ऐसी उदारता नहीं बरती कि वायसराय को ब्रिटिश संसद के अधिकार दे दें। "सार्वभौमक शक्ति" का यह मुखौटा एक कवच था जिसके द्वारा इंग्लैण्ड दुनिया को सिर्फ यही दिखाना चाहता था कि भारत का विभाजन इंग्लैण्ड का पूर्व निर्णय नहीं था।

अति आत्मविश्वास में माउण्टबेटन ने विभाजन योजना लन्दन भेज तो दी किन्तु उसके बाद एक भय ने उसे आक्रान्त कर दिया—अगर कांग्रेस के नेताओं ने यह योजना ठुकरा दी तो? उसने तार देकर नेहरू को बुलवाया, और उसी रात वह योजना उसे पढ़ने को दी। नेहरू यह योजना पढ़ते ही आग बबूला हो गये। उनके मित्र ने भी यही हाल किया। उस योजना में भारत माता के चारों ओर से रुधिर टपक रहा था, घाव-ही-घाव थे और रोज माँ के शरीर पर नये-नये घाव करने की छूट थी उसके पुत्रों को।

माउण्टबेटन ने वी० पी० मेनन को बुलाया और नयी विभाजन योजना बनाने को कहा। इसमें प्रान्तों की स्वतन्त्रता के दरवाजे बन्द कर दिये गये। उनके सामने विकल्प रखा गया—वे चाहे भारत में शामिल हों चाहे पाकिस्तान में। यह नयी विभाजन योजना नेहरू ने स्वीकार कर ली।

एटली को इस परिवर्तन का पता चला तो वह पागल हो गया। यह हो क्या रहा है? एक ही दिन में दूसरी विभाजन योजना? क्या रोज नयी योजनाएं बनेंगी? उसने माउण्टबेटन को तार देकर लन्दन बुलवाया। माउण्टबेटन जानता था कि स्थिति पागल कर देने वाली है लेकिन वह निश्चिन्त था। वह जानता था पूरी कैबिनेट कितनी भी उबल ले पर उसके पास और कोई चारा नहीं है। वह पूरी तरह से उस पर आश्रित है। कैबिनेट को वही करना पड़ेगा जो वह कहेगा।

एटली सरकार चिन्तित थी—किसी तरह रक्तपात शुरू होने से पहले सत्ता भारतीयों को हस्तान्तरित करने के लिए। कैबिनेट ने माउण्टबेटन की संशोधित विभाजन योजना ज्यों-की-त्यों स्वीकार कर ली। अभी एक जबरदस्त व्यवधान बाकी था—चर्चिल। उसकी कंजरवेटिव पार्टी हाउस आफ लार्ड्स में बहुमत में थी और वह भारत की स्वतन्त्रता के बिल को दो साल तक पास होने से रोक सकता था। सब जानते थे चर्चिल के लिए भारत की स्वतन्त्रता का विचार एक भयानक स्वप्न जैसा था। सुयोग्य ब्रिटिश शासकों को हटाकर भारतीय अफसरों को सत्ता सौंपना एक भयानक दुर्घटना थी क्योंकि, चर्चिल के अनुसार, "भारतीय अफसर, दार्शनिक अनुभव-विहीन, खोखले, अव्यवहारिक, और बेईमान थे।"

चर्चिल की यह धारणा कितनी असरदार रही होगी इसका अनुमान इस बात से लगाया जा सकता है कि आजादी के चार दशक बाद भी आज भारतीय अफसर एक बात से बहुत घबराते हैं कि उन्हें कोई "दार्शनिक" न कह दे। भारतीय अफसरों की निजी भाषा में आज भी सबसे बड़ी गाली "दार्शनिक" है। जिस अफसर को गिराना होता है उसे वे "दार्शनिक" कहने लगते हैं। चर्चिल का भूत आज भी सेक्रेट्रियेट की मुण्डेरों पर बैठा हुआ, कलेक्ट्रेटों के बराण्डों में घूमता हुआ, भारतीय अफसरों को इशारे से सचेत करता लगता है कि कुछ भी करना, विचारशील मत बनना, किसी समस्या पर गहन चिन्तन मत करना।

चर्चिल को जब माउण्टबेटन ने बताया कि नेहरू आजादी के बाद भारत को कामनवेल्थ में रखने को तैयार है तो चर्चिल ने विरोध छोड़ दिया। उसका प्रिय साम्राज्य मर रहा था लेकिन कामनवेल्थ के रूप में उसका शिशु जीयेगा। यह एक आशाप्रद चिह्न था। चर्चिल सहमत हो गया।

विभाजन पर उनकी सहमति प्राप्त करने के लिए माउण्टबेटन ने गांधी को 2 जून 1947 सोमवार को क्यों बुलाया जबकि सारी दुनिया जानती थी कि सोमवार को गांधी जी मौन रहते हैं ? क्या उनके मौन का राजनैतिक उपयोग करने के उद्देश्य से उसने उन्हें सोमवार के दिन बुलाया था ? फिर जब गांधी जी मिले तो उन्होंने कागज पर लिखकर बताया कि उनका मौन दिवस है ? जब वे लिखकर बात कर सकते थे तो उन्होंने लिखकर स्पष्ट क्यों नहीं कहा कि वे विभाजन को स्वीकार नहीं करते ? इतने महत्वपूर्ण विषय पर, जब भारत के भाग्य का फैसला हो रहा था, वे अपनी जिम्मेदारी से क्यों बचे ? वे जीवन भर अपने विचारों के लिए लड़े थे। फिर इस सर्वाधिक महत्वपूर्ण विषय पर क्यों चुप हो गये ? स्वयं नेहरू ने दुःख और आश्चर्य के साथ उनकी आलोचना की थी : "भारत के शरीर पर एक के बाद एक निकलते फोड़ों को ठीक करने के लिए गांधी जी मलहम लिये नोआखाली और बिहार में घूम रहे हैं जबकि वक्त का तकाजा है कि इस बीमारी के कारणों को खोजें और दूसरों से वार्तालाप करके पूरे शरीर के उपचार का तरीका ढूँढें।"

इस रहस्य का उत्तर मनु गांधी के शब्दों में मिलता है। समुची कांग्रेस को विभाजन के पक्ष में देखकर गांधी जी सन्देह से घिर गये थे—कहीं मैं गलत तो नहीं।

स्वयं माउण्टबेटन का कहना है कि उसे ऐसा महसूस होता था कि कांग्रेस उसे विभाजन के प्रश्न पर गांधी का सामना करने को उकसा रही है। उसे लगता था कि यदि वह गांधी का विरोध इस प्रश्न पर करेगा तो कांग्रेस के लोग उसके साथ होंगे।

कोई आश्चर्य नहीं कि अपने शिष्यों को अपने विरुद्ध खड़े देख गांधी जी का मन संशय से भर गया हो। आखिरकार एक नेता उतना ही अपने शिष्यों की कृति होता है जितने कि शिष्य उसकी।

3 जून 1947 को माउण्टबेटन ने विभाजन योजना नेहरू, जिन्ना और बलदेव सिंह के आगे रखी। उसे दो दिन के भीतर ही स्वीकृति प्राप्त कर एटली को भेजनी थी, ब्रिटिश संसद के समक्ष उसकी विधिवत घोषणा हेतु। वह बहुत जल्दी में था। ऐन मौके पर जिन्ना ने एक आपत्ति रखी—"मुझे एक सप्ताह का समय चाहिए ताकि मैं मुस्लिम लीग से इसकी स्वीकृति प्राप्त कर सकूँ।" माउण्टबेटन घृणा और क्रोध से भर उठा उस दुबले तपेदिक से ग्रस्त मरीज के प्रति जो उसकी

जीत को हार में बदले दे रहा था। वह पाकिस्तान, जो एक असम्भवतः था, माउण्टबेटन के अथक प्रयत्नों के फलस्वरूप, उसे मिल रहा था, और वह था कि कृतज्ञता प्रकट करने के बजाय रोड़े डाल रहा था। जिन्ना ने उसे चिढ़ाने के लिए अपनी आपत्ति का कारण बताया—"मैं मुस्लिम लीग नहीं हूँ। जो फैसला पार्टी को करना है वह मैं अकेले कैसे कर सकता हूँ?"

माउण्टबेटन इस सिन्धी मजाक के लिए तैयार नहीं था। आखिर बात यों तय हुई कि माउण्टबेटन जब इसकी विधिवत घोषणा करेगा तो जिन्ना कुछ बोलेगा नहीं और सिर हिलाकर अपनी सहमति व्यक्त करेगा। वही हुआ। इसके साथ ही जिन्ना का मजाक भी समाप्त हो गया। उसी शाम उसने आल इण्डिया रेडियो पर अंग्रेजी में अनपढ़ करोड़ों मुस्लिमों के लिए इसकी स्वीकृति की घोषणा कर दी।

अगले दिन कुछ देर के लिए फिर गांधी जी की वेदना जगी। उन्होंने इसका विरोध करने का और कांग्रेस नेताओं से सम्बन्ध विच्छेद करने का संकेत दिया। माउण्टबेटन फिर घबराया। उसने गांधी को बुलवाया। उसके तर्क सुनकर गांधी जी चुप हो गये। इस तरह भारतीय स्वतन्त्रता संग्राम का सर्वोच्च सेनापति अपनी वेदना को हृदय में लिये मौन हो गया और भारत का विभाजन हो गया। जो सोने की चिड़िया कहलाता था उस भारत को पाँच करोड़ डालर के ऋण से ऋणग्रस्त कर भारतीयों को सौंपने की तैयारी होने लगी। जो भी दफ्तरों का सामान था कुर्सियाँ, मेज, पंखे, किताबें उस सबको बाँटने के, 17/2 प्रतिशत के हिसाब से पाकिस्तान का हिस्सा देने के लिए, जल्दी-जल्दी में हास्यास्पद तरीके अपनाये जाने लगे। इंग्लैण्ड का खराब मौसम अंग्रेजों को इतना गम्भीर बनाये रखता है कि वे मजाक का कोई मौका नहीं चूकते।

इंग्लैण्ड के एक बैरिस्टर सिरिल रेडक्लीफ को, जो भारत कभी नहीं आया था, जो भारत के बारे में कुछ नहीं जानता था, इन्हीं गुणों के कारण लार्ड चान्सलर ने भारत के विभाजन का काम 27 जून को सौंप दिया। कोई भी अंग्रेज जो भारत को जानता है निश्चित ही हिन्दुओं या मुसलमानों में किसी एक का पक्ष ले लेगा—यह लार्ड चान्सलर का खयाल था।

चर्चिल का खयाल था कि अंग्रेज स्वभाव से ही ईमानदार और निष्पक्ष होते हैं। इन काल्पनिक मान्यताओं ने उसे एक प्रेरक नेता बनाया था, जिसने इंग्लैण्ड को एक कठिन घड़ी में पार लगाया था। लेकिन लार्ड चान्सलर जानता था कि चर्चिल को अंग्रेज स्वभाव की लगभग उतनी ही जानकारी थी जितनी एक मछली को होती है चिड़ियों की। लार्ड चान्सलर अंग्रेज स्वभाव की वास्तविकता से परिचित था। क्लाइव और हेस्टिंग्स के अनुचरों को स्वर्ण से उतना ही प्यार रहा था जितना महिलाओं को अपने आभूषणों से। उनका ऐतबार नहीं किया जा

सकता, विशेषकर इस अवसर पर जब वे हमेशा के लिए भारत छोड़ रहे थे। बहुत से भारतीय होंगे जो अपने गाँव को, शहर को, भारत या पाकिस्तान में रखने के लिए बड़ी-से-बड़ी थैलियाँ भेंट करने को तैयार हो जायेंगे। इस समय के अंग्रेजों के कारनामे हमेशा के लिए इंग्लैण्ड को बदनाम करके रख देंगे। इसलिए उसने रेडक्लीफ को चुना जिसका भारत से परिचय सिर्फ इतना था कि वह विश्व के मानचित्र का एक अंग है। अचानक भाग्य ने रेडक्लीफ को गुमनामी के अँधेरे से उठाकर वह जगह दे दी थी जहाँ से उसका कारनामा भारतीय जनजीवन पर वह असर डालने जा रहा था, जो तीन शताब्दियों में किसी भी अंग्रेज का कारनामा नहीं डाल पाया था।

वर्ष में 365 दिन होते हैं और भारत में 565 राजा और महाराजा थे। सब काम छोड़, सौहार्द और प्रीति हेतु, यदि वायसराय हर एक के यहाँ सिर्फ एक दिन के मेहमान बनते तो भी वर्ष के अन्त में दो सौ रौबिली मूछों के ऊपर चार सौ राजसी आँखें प्यासी रह जातीं। इन राजाओं ने अंग्रेजों को पूरब के रहस्यों से परिचित कराया था और विशेष आनन्द उपलब्ध कराये थे। चलते हुए कृतज्ञ अंग्रेज उन्हें नहीं भूले। वे गुप्त फाइलें जला दी गयी जिनमें महाराजाओं और अंग्रेज अफसरों के काले कारनामे और रंगीनियाँ अंकित थीं।

वायसराय ने इन 565 राजाओं के पक्ष में कैबिनेट के आगे वकालत करने को अपने सैनिक सचिव कोनार्ड कोरफील्ड को भेजा था। ब्रिटिश कैबिनेट मान गयी थी कि जो राजसिक सर्वोच्च अधिकार नवाबों और राजाओं ने ब्रिटिश साम्राज्य के चरणों में समर्पित किये थे वे उन्हें ही लौटा दिये जायें। इस उदारता को लागू करने पर भारत के दो नहीं 567 टुकड़े हो जाते। ब्रिटिश सरकार को विश्वास था कि भारतीय इतना जीव-विज्ञान अवश्य जानते होंगे कि जैसे जान दो टुकड़े हो जाने पर निकलती है वैसे ही 567 टुकड़े हो जाने पर भी निकलती है, और वे टुकड़ों की संख्या से हतोत्साहित नहीं होंगे।

लेकिन एक घटना ने माउण्टबेटन के दिल पर बहुत असर डाला। नेहरू ने ही नहीं एक दिन गांधी ने भी उससे कहा कि जब भारत स्वतन्त्र होगा तो तुम स्वतन्त्र भारत के गवर्नर-जनरल बन जाना। ये वो लोग थे जिन्हें अंग्रेजों ने जीवन भर अपमानित किया था, जिनके यौवन और पौरुष को जेल के सीखचों के पीछे छटपटाया था। निर्मम ब्रिटेन के प्रतिनिधि से वे ही कह रहे थे कि वह स्वतन्त्र भारत में भी सर्वोच्च अधिकारी बनकर रहे। इस सादगी और निश्छलता पर माउण्टबेटन की आँखें भर आयीं। दूसरी ओर जिन्ना था जो स्वयं उस आसन पर बैठने का विक्षिप्तता से इन्तजार कर रहा था।

माउण्टबेटन का हृदय दहला—नहीं, वह इन मासूम राजनीतिज्ञों को इतना कठिन भारत नहीं देगा विरासत में। तब उसने स्वयं को एक नये कर्तव्य से अलंकृत

किया जो अंग्रेज चरित्र की भव्यता के शिखरों तक चढ़ सकने की क्षमता का प्रतीक है। उसने स्वयं इन रियासतों को भारत में लीन करने का अभियान शुरू किया। पाकिस्तान में सिर्फ पाँच रियासतें मिलीं जो पाकिस्तान के भीतर थीं। तीन रियासतों, काश्मीर, हैदराबाद और जूनागढ़ ने किसी की बात नहीं मानी, न माउण्टेबटन की न पटेल की। शेष 557 रियासतें भारत में मिल गयीं।

कुल दो महीने बाद जब पाकिस्तान ने कबाइलियों की छद्मसेना भेजकर काश्मीर पर हमला कर दिया तो आमोद प्रेमी, लन्दन के उच्च वर्ग में गुप्त रूमानी चर्चों का नायक, महाराजा हरिसिंह अचानक एक ऐसे यथार्थ के रूबरू हो गया जिसने पूर्ण स्वच्छन्दता के उसके स्वप्नों को धूलिधूसरित कर दिया। आत्मसुरक्षा को खतरे में देख उसने काश्मीर का विलय भारत में कर दिया।

13 अगस्त 1947 को सिरिल रेडक्लीफ ने अपना काम पूरा कर दिया और वायसराय को भारत का नक्शा भेज दिया जिस पर उसने भारत के दो टुकड़े किये थे। बस इतने से काम के लिए भाग्य के देवता ने रेडक्लीफ को गुमनामी के अँधेरे से उठाया था और फिर से गुमनामी के अँधेरे में पटक दिया।

माउण्टबेटन ने अगले 72 घण्टों तक उस नक्शे को छुपाये रखा। किसी को इसकी हवा नहीं लगने दी। उसका ख्याल था कि यदि लोगों को इतना पता चल गया तो 15 अगस्त को विभाजन सौजन्यतापूर्ण वातावरण में नहीं हो सकेगा। व्यक्ति की तरह एक जाति को भी सनक चढ़ती है। ऐसे सुनियोजित ऐतिहासिक अवसरों पर वह सनक पूरी आन-बान के साथ प्रकट होती है। अंग्रेज को भी यह सनक थी कि चाहे कुछ भी हो यह खूनी रंग जो उनकी नीति भारत में लायेगी उनके जाने के बाद ही लाये। उनको यह विश्वास था कि यह अहतियात अगर उन्होंने बरत ली तो दुनिया उन्हें क्षमा कर देगी। यह ऐसा ही अन्धविश्वास था जैसा एक कट्टर हिन्दू में होता है कि अगर किसी तरह वह मरने के समय काशी पहुँच गया तो उसके सारे पाप क्षमा हो जायेंगे।

विभाजन के पहले दिन से ही लाहौर में दंगे भड़क उठे। दिल्ली अठारह दिनों तक चुप रही। मगर पाकिस्तान में कत्ल किये गये सिखों और हिन्दुओं से भरी रेलगाड़ियाँ देखकर, हिन्दू, सिख महिलाओं और बच्चों की हृदय विदारक दुर्दशा देखकर, दिल्ली के अकाली और राष्ट्रीय स्वयं संघ के लोग भड़क उठे। 3 सितम्बर को यह आग लगी और 4 सितम्बर तक एक हजार व्यक्तियों की बलि इस आग ने ले ली।

एटली, चर्चिल, नेहरू, जिन्ना की बात मानते हुए माउण्टबेटन स्वतन्त्र भारत के प्रथम गवर्नर-जनरल बन गये। ब्रिटेन कितना उत्सुक था कि इन साम्प्रदायिक दंगों से उसका नाम दूर रहे, यह इस बात से और स्पष्ट हो जाता है कि पहली बार भारत के गवर्नर-जनरल ने वर्षाऋतु में शिमला-विहार किया। वह उन

मैदानी भागों से दूर रहना चाहता था जहाँ इतिहास का सबसे बड़ा आबादी का तबादला हो रहा था, जहाँ शरणार्थियों के एक ही काफिले में आठ लाख लोग गिने गये थे, भूखे, निराश्रित, लुटे, अपमानित लोग जो मानसिक और शारीरिक रूप से पूरी तरह टूटे हुए थे। भारत और पाकिस्तान के बीच की सड़क लाशों से पटी थी। कैप्टन आर्टकिन्स के अनुसार—'चीलें उन्हें खा-खाकर इतनी मोटी हो गयी थीं कि उनसे उड़ा नहीं जा रहा था और कुत्तों के नखरे बढ़ गये थे, वे चुन-चुन कर इन्सानी लाशों के सिर्फ कलेजे खा रहे थे।'' दर्दनाक दृश्य इतने थे कि लोगों के दिल दर्दमन्द होने से डरने लगे थे। एक पत्रकार कुलदीप सिंह की गाड़ी के पीछे सफेद दाढ़ी वाला एक बूढ़ा सिख कुछ दूर तक भागा। वह अपने नन्हें नाती की मासूम सूरत दिखाकर कुलदीप का हृदय द्रवित करना चाह रहा था—''इसे ले जाओ। यह तो देख ले भारत।''

एक ऐसे निर्मम नृशंस, तर्कविहीन, उन्मादग्रस्त, हत्याकाण्ड के समय, जिसमें विश्वयुद्ध में मरे लोगों से आधे आदमी मर गये थे, ऐसी वीरता को चुनौती देने वाले अवसर पर, विश्वयुद्ध का प्रसिद्ध समुद्री सेनापति, दक्षिण-पूर्वी एशिया का सर्वोच्च सेनापति, एडमिरल माउण्टबेटन एक बुद्ध की वीतराग मुद्रा बनाये शिमले की बरसात के कोहरे से ढका बैठा था। टेलीफोन पर बड़ी मिन्नतें करके उसे नीचे उतारा गया। तब टूटे-बिखरे प्रशासन की बागडोर फिर एक बार माउण्टबेटन ने सँभाली। सुदूर लन्दन चुरूट होंठों में दबाये, एक ठुड्डी पर दूसरी ठुड्डी टिकाये अपने मोटे-मोटे गालों को हवा में झुलाते हुए, सोफे में धंसा चर्चिल विद्रूप भरी हँसी हँस रहा था। तीन सप्ताह भी नहीं बीते थे कि उसकी भविष्यवाणी पूरी हो गयी थी। ''खयाली, दार्शनिक अव्यवहारिक और बेईमान भारतीय अफसर'' प्रशासन करने में पूरी तरह अयोग्य साबित हो गये थे।

प्रधानमन्त्री एटली ने अक्टूबर 47 में पूछा था—''क्या हमने आजादी देने में जल्दबाजी करके गलती नहीं की?'' यह एक बहुत बड़ी गलती थी। अगर इंग्लैण्ड जैसा प्रशासन में सिद्धहस्त देश जानबूझ कर यह गलती न करता तो यह गलती नहीं हो सकती थी। केवल यह साबित करने के लिए कि भारतीय प्रशासन नहीं कर सकते ब्रिटेन ने भारत के टुकड़े करने का दिन आजादी देने के एक दिन बाद रखा। जब इतनी बड़ी जनसंख्या का तबादला होना था तो यह तबादला ब्रिटेन को अपने राज में करना चाहिए था। इतने विशाल कार्य को वे संगठित सिविल शासन और सेना की मदद से बखूबी कर सकते थे। दो नव-निर्मित राष्ट्र, जिनकी सेना और सिविल शासन विभाजन के आघात से उभरकर संगठित भी नहीं हो पाये थे, कैसे इस विशाल कार्य को कर सकते थे? उनके आधे से अधिक सिविल और मिलिट्री अफसर तो एक ही दिन में इंग्लैण्ड चले गये थे। जो बचे उनमें आधे अनिश्चित थे कि वे भारत में जायें या पाकिस्तान में रहें। जो

रह गये उनके पास इतने बड़े-बड़े क्षेत्र थे कि उनको देख पाना असम्भव था। ये सब ऐसी परेशानियाँ थीं जिनका पूर्व अनुमान कोई भी प्रशासनिक तन्त्र लगा सकता था।

4 सितम्बर 1947 को शिमले से दिल्ली वापस आने के बाद से जून 48 तक, जब तक वह गवर्नर-जनरल रहा, माउण्टवेटन ने उच्च कर्तव्यनिष्ठा और यथार्थ-परकता का अविरल परिचय दिया जिसके लिए अंग्रेज जाति को उस पर उचित नाज है। उसने कोई कसर उठा नहीं रखी इस समस्या से जूझने में। एड-विना माउण्टवेटन ने एक साधारण महिला की तरह मिट्टी से सने घुटने लिये, शरणार्थी कैम्पों में जो दिन-रात सेवा की वह उसके उदात्त चरित्र और संवेदना का एक ऐसा प्रतीक है जिसने करोड़ों भारतीय हृदयों में माउण्टवेटन दम्पत्ति के लिए वह प्रेम जगा दिया जो तीन सौ वर्षों में कोई भी अंग्रेज नहीं जगा सका। उन कैम्पों में एक युवती भी मौन सेवा कर रही थी—श्रीमती इन्दिरा गांधी।

माउण्टबेटन की कुछ अपनी राजनैतिक मान्यताएँ थीं जिन पर वह स्वतन्त्र भारत का गवर्नर-जनरल होने के बाद भी उसी तरह अडिग रहा। उन मान्यताओं में से एक यह थी कि कश्मीर, जहाँ 90 प्रतिशत मुसलमान हैं, पाकिस्तान का अंग बने। पाकिस्तान हमले से कश्मीर को बचाने के लिए जब महाराजा हरिसिंह कश्मीर का बिना शर्त विलय भारत में करने की प्रार्थना कर रहा था तो माउण्ट-वेटन ने अपने जादू का अन्तिम प्रयोग नेहरू पर किया। उसने नेहरू को राजी कर लिया कि इस विलय को अस्थायी विलय समझा जाये। कश्मीर की जनता वोट द्वारा भारत या पाकिस्तान में जिसे भी चुने उसी के साथ उसका स्थायी विलय किया जाये। 12 दिन के बाद 7 नवम्बर 1947 को माउण्टवेटन ने इंग्लैण्ड के राजा को लिखे पत्र में अपनी वह गुप्त इच्छा लिखी जो वह नेहरू और पटेल से अन्त तक छिपाये रहा। "मुझे विश्वास है माउण्टबेटन ने इंग्लैण्ड के राजा को लिखा, कि इतने ज्यादा मुसलमान हैं कश्मीर में कि फैसला पाकिस्तान के पक्ष में ही होगा।"

माउण्टवेटन की इस इच्छा ने एक ऐसे अनावश्यक विवाद की रचना कर दी जिससे 39 वर्षों बाद, पाकिस्तान के दो हमलों का जवाब देने के बाद भी, भारत आज तक नहीं निकल सका। जब सभी रियासतों का विलय बिना वोट के हुआ था तो कश्मीर के लिए यह विशेष प्राविधान क्यों रखा गया? यह एक ऐसा प्रश्न था जिसका उत्तर शाही सिपाही माउण्टबेटन को भी नहीं देना पड़ा क्योंकि यह प्रश्न सिर्फ नेहरू उससे 25 अक्टूबर 1947 को पूछ सकते थे और उन्होंने नहीं पूछा था।

लेकिन 557 रियासतों का भारत में विलय करने में माउण्टबेटन ने जो तत्परता दिखायी थी उसने अंग्रेज सरकार को नाराज कर दिया था। भारत जैसे

विशाल उपमहाद्वीप में प्रथम स्थान देने के बाद अंग्रेज सरकार ने माल्टा जैसे छोटे द्वीप में उसे तेरहवाँ स्थान दिया। किन्तु उसके सफल कैरियर का यह एक मात्र उतार था। वह तेजी से सिर्फ ऊपर चढ़ा और 1955 में ब्रिटेन की नौसेना का सर्वोच्च सेनापति, फर्स्ट सी लार्ड बना। 1965 में रिटायर होने के समय वह ब्रिटेन की सुरक्षा सेनाओं का चीफ था।

सेवा निवृत्ति के बाद वह अपने समय का कुछ भाग आयरलैण्ड स्थित अपने किले मे बिताया करता था। आयरलैण्ड को इंग्लैण्ड से वही शिकायत रही है जो गुलाम भारत को थी हालांकि आयरिश लोग भी गोरे हैं, और ब्रिटेन की सरकार आयरलैण्ड को अपना एक प्रान्त समझती है, भारत की तरह उपनिवेश नही। माउण्टबेटन की नीति भारतीय नेताओ मे कोई सन्देह नही जगा पायी थी, किन्तु आयरिश देशभक्तों को उसकी मानवता एक ढोंग और मुखौटे के अलावा कुछ नहीं लगी। उनकी नजरों में माउण्टबेटन एक पक्का ब्रिटिशर था जिसकी नजरों में दूसरे देश वालों की देशभक्ति एक अपराध थी। इस धारणा के साथ आयरिश आतंकवादियों ने उसकी नाव मे बम छुपा कर उस समुद्र प्रेमी सेनापति को जल समाधि दे दी।

यह कहानी थी भारत के स्वतन्त्रता आन्दोलन की—एक कहानी जिसमें तूफान और प्रचण्ड झंझावत थे, दुःख और भव्यता थी, नीचे साम्प्रदायिक विद्वेष और उद्दात आध्यात्मिक ऊँचाइयाँ थी। अंग्रेजों के काले कारनामे लिख दिये गये है। किन्तु हमें नही भूलना चाहिए कि ब्रिटिश राज में ही भारतीयों में राष्ट्रीय भावना का उदय हुआ था और उन्होंने राजनैतिक स्वतन्त्रता के मूल्य को पहचाना था। अंग्रेजों ने भारत के आध्यात्मिक दृष्टिकोण को यथार्थवाद का स्पर्श दिया था। उन्होने भारत को एक सशक्त प्रशासनिक तन्त्र दिया और अनेक सुधारों की प्रेरणा दी। शायद दुनिया में दूसरा देश नहीं है जहाँ पूर्व और पश्चिम ने एक दूसरे को समझने की इतनी कोशिश की हो, जहाँ इनके मिलन से इतने फूल खिले हों।





निर्मल कुमार प्रशासकीय उच्चपद पर कार्यरत, पर स्वभाव, प्रकृति और प्रतिभा, से प्रखर संवेगशील। चितक-रचनाकार, कविता, कहानी, उपन्यास, निबंध, नाटक, मनोविज्ञान, संस्कृति, इतिहास पर हिन्दी, अंग्रेजी भाषा में प्रकाशित अनेक बहुचर्चित प्रकाशन है।

निर्मल कुमार की रचनायें :

उपन्यास : बिन उद्गम के स्त्रोत (दो खण्डों में), अधूरे चांद का सफर, धूप न छाँव, आरुणी, **कहानी संग्रह :** वेला तथा अन्य कहानियाँ, वर्फ के फूल, कुंआरी धरती, **नाटक :** राजुल नेमिनाथ, सम्राट औरंगजेब, राजकुमार, औरंगजेब, शरद का अंतिम मेघ, बसंत की बरखा, **कविता :** पंखड़ियाँ, अभिसार **विविध :** वर्द्धमान महावीर **आलोचना :** सत्य सुन्दर, निर्मल-निर्मला चौहान, अंग्रेजी में : दि न्यूमो-सोमेटिक साईकालोजी, (दो खण्ड) दि स्ट्रीम आफ इण्डियन कल्चर, ऋतः साईकोलोजी, बियाण्ड फ्रायड, सिक्ख फिलोसफी एण्ड रिलीजन, दि० क्लाऊड कैरियर आफ कालिंग, फास्ट एट मिड डे।